गीता में राजयोग
(साधक का जीवन)

स्वामी संवित् सुबोधगिरि

डॉ. हरवंशलाल ओबराय समग्र

खण्ड 1 : राष्ट्रीय समस्याएं और इतिहास
खण्ड 2 : महापुरुष : व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व
खण्ड 3 : धर्म-दर्शन-संस्कृति-उत्सव-विज्ञान एवं मनोविज्ञान
खण्ड 4 : वेदान्त दर्शन की वैज्ञानिकता
खण्ड 5 : गीता दर्शन की सार्वभौमिकता

प्रकाशक एवं वितरक :
स्वामी संवित् सुबोधगिरि
श्री नृसिंह भवन
संन्यास आश्रम, भक्तानन्द
शिव मन्दिर
भीनासर 334403
बीकानेर (राजस्थान)
मो. : 09413769139

पुस्तक प्राप्ति हेतु अन्य स्थान :
श्री सुशील कुमार ताम्बी
प्रज्ञा साधना आध्यात्मिक पुस्तक केन्द्र
A/3 आर्य नगर
एन.के. पब्लिक स्कूल के पास
मुरलीपुरा, जयपुर 302039
फोन : 0141-2233765
मो. : 09829547773

ISBN 978-93-84133-24-5

प्रथम संस्करण : 2021 ई.

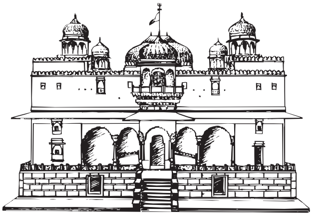
प्रतियां : 500

मूल्य : एक सौ बीस रुपये मात्र

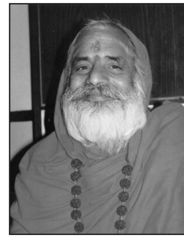
मुद्रक :
सांखला प्रिंटर्स, विनायक शिखर
शिवबाड़ी रोड, बीकानेर 334003

GITA MEN RAJYOG by Swami Samvit Subodhgiri ₹ 120

ॐ ईशावास्यं इदं सर्वम्



श्री लालेश्वर महादेव मन्दिर



महन्त
स्वामी संवित् सोमगिरि
श्रीलालेश्वर महादेव मन्दिर, शिवमठ,
शिवबाड़ी, बीकानेर 334003 (राजस्थान)

शिवाशीर्वाद

ब्रह्म-गगन में उमड़ी करुणा घटा-गिरि-शिखरों पर बरसी, सरिता बल बहती हुई पूर्णता-सागर से एक हुई, इस समरसमयी लीला का नाम है श्रीमद्‌भगवद्‌गीता। जो इसमें अवगाहन करता है, इसका गान-पान करता है उसका जीवन धन्य हो जाता है। ऐसी ही साधना में निरत श्री स्वामी संवित् सुबोधगिरिजी द्वारा गीता पर रचित कई पुस्तकों में से एक है—गीता का राजयोग। गीता के प्रथम तीन अध्यायों में ब्रह्मविद्या का 'श्रवण' पूर्ण हुआ। चौथे व पांचवे अध्याय मे 'मनन' की साधना को देखा जा सकता है। छठे अध्याय में 'निदिध्यासन' की साधना का प्रतिपादन हुआ है। 'श्रवण' से ज्ञान उत्पन्न न होने पर 'मनन' की साधना की जाती है। 'विपरीत भावना' रूप दोष के कारण जब 'मनन' से भी बोध फलित नहीं होता तो निदिध्यासन' की साधना आवश्यक है। छठे अध्याय में बताया है कि 'दुःख-संयोग के वियोग को ही योग कहते हैं, 'समदर्शी अपने स्वरूप में सब भूतों को देखता है तथा अपने स्वरूप को सब भूतों में देखता है'—इस पूर्ण उपलब्धि हेतु उपाय रूपेण बैठकर ध्यान करने की विधि को भी छठे अध्याय में बताया है। प्रस्तुत पुस्तक में विद्वान लेखक ने छठे अध्याय के अर्थ को प्रकाशित करने का प्रशंसनीय प्रयास किया है। साधकों के लिए यह पुस्तक लाभप्रद होगी ईश्वर-गुरु-शास्त्र की कृपापूर्वक श्री स्वामी संवित् सुबोधगिरिजी जीवन्-मुक्ति को प्राप्त करें—यह शुभकामना है।

शिवाकांक्षी

संवित् सोमगिरि

गीता में राजयोग
(साधक का जीवन)

राजयोग का सूत्र है Meditate for the perfect

मन में अपार शक्ति छिपी हुई है। उसमें असीम सम्भावनाएं निहित हैं पर उसका हमें पता नहीं है, उसमें हमारा प्रवेश नहीं है। हम अपनी शक्ति का 8-10% ही उपयोग कर पाते हैं, 90% सुप्त ही पड़ी रहती है। हमारा मन हजारों चीजों में बिखरा हुआ बहुकाग्र बना हुआ है। इसलिए साधारण मनुष्य उस अपार शक्ति का कुछ भी सदुपयोग नहीं कर पाता वरन् वह मन के तूफानों से स्वयं तबाह होता रहता है। जिस प्रकार प्रतिवर्ष सतलुज नदी की बाढ़ से फिरोजपुर तथा पंजाब के कई जिले बाढ़ में डूब जाते थे, मनुष्य और पशु मर जाते, भवन गिर जाते, खेती उजड़ जाती, कारखाने बर्बाद हो जाते, वहां सतलुज पर भाखड़ा डेम बांध देने से बाढ़ की विनाशकारी लीला रुक गई। जन-धन की हानि समाप्त हो गई। इसके साथ ही विद्युत् का बहुत बड़ा भण्डार प्राप्त हो गया जिससे उत्तर भारत जगमगा उठा। कल-कारखानों में उत्पादन बढ़ गया और सारे क्षेत्र में अविश्वसनीय प्रगति हो गई। सतलुज के जल को बांध में बांधना उसकी विनाशकारी जलराशि को विश्वमंगलकारी बनाना है। अनियंत्रित मन को नियंत्रित करना अपने सर्वनाश के स्थान पर अपना सर्वांगीण विकास करना है।

भगवान् श्रीकृष्ण का उद्देश्य अर्जुन को स्वराज्य, धर्म राज्य की स्थापना के लिए निष्काम कर्म में लगाना है। कर्मयोगी की सफलता के लिए उसे ज्ञानी भी होना चाहिए, भक्त भी होना चाहिए और योगी भी होना चाहिए। बिना योग के हम सफल निष्काम कर्मी नहीं हो सकते। अतः छठे अध्याय में राजयोग का प्रतिपादन हुआ है। गीता में राजयोग या पातंजल योग सूत्र का उतना अंश ही स्वीकारा जो कर्मयोगी, ज्ञानी और भक्त बनने में सहायक है। इस दृष्टि से साधक का जीवन, उसका आहार-विहार कैसा होना चाहिए, उसका समाज के प्रति व्यवहार कैसा होना चाहिए, उसका आसन कैसा होना चाहिए और कहां पर स्थापित होना चाहिए, उसके शरीर की स्थिति कैसी होनी चाहिए, उसका मन कितना संयत होना

चाहिए? मन अवश्य चंचल है पर अभ्यास और वैराग्य द्वारा वश में किया जा सकता है। यदि योग के सिद्ध होने के पूर्व साधक का शरीर शांत हो जाता है या किसी कारण योग से च्युत हो जाता है तो भी वह नाश को प्राप्त नहीं होगा। जहां से पिछले जन्म में साधना छूट गयी थी वहीं से अगले जन्म में प्रारम्भ हो जाएगी। स्वधर्म के मार्ग पर, योग के मार्ग पर, भक्ति एवं ज्ञान के मार्ग पर चलने वाला कभी भी नाश को नहीं प्राप्त होता। गीता पातंजल योग के दर्शन पक्ष को नहीं स्वीकारता। दर्शन की दृष्टि से अद्वेत वेदान्त दर्शन को स्वीकारते हुए साधक की पूरी जीवनचर्या कैसी होनी चाहिए ताकि जीवन काल में ही सिद्धि को, परम गति को, मोक्ष का लाभ प्राप्त कर सके, इसका प्रतिपादन बहुत सुन्दर रीति से हुआ है।

महामनीषी डा. हरवंशलाल ओबराय योग दर्शन और गीता पर तुलनात्मक काम करवाना चाहते थे। मेरे को इस विषय में एक दिन पढ़ाया भी था, पर अचानक दुर्घटना में देहावसान होने से यह कार्य नहीं हो सका। मैंने गीता के छठे अध्याय को आधार बनाकर यह कार्य करने की चेष्टा की है जो आप सब मनीषियों के समक्ष हैं।

इस पुस्तक को तैयार करने में परम पूज्य गुरुदेव स्वामी संवित् सोमगिरिजी, अनन्त विभूषित परम पूज्य जगद् गुरु शंकराचार्य, गोवर्द्धन पीठाधीश्वर स्वामी निश्चलानन्द सरस्वतीजी, परम पूज्य स्वामी रंगानाथानन्दजी, परम पूज्य स्वामी महेशानन्दगिरिजी, महामनीषी डॉ. हरवंशलाल ओबराय, श्रद्धेय विष्णुकान्त शास्त्रीजी, डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकारजी एवं अन्य अनेक श्रेद्धय जनों का सहयोग लिया है। इन सबका आशीर्वाद मेरे पर सदा बना रहे ऐसी प्रभु से प्रार्थना है। प्रूफ रीडिंग में श्रद्धेय तोलाराम जी लाठ, श्री शिवकुमार वर्मा एवं श्री मुहरसिंह वर्मा से मदद मिली। इनका हृदय से आभारी हूं।

परम पूज्य गुरुदेव स्वामी संवित् सोमगिरिजी महाराज के आशीर्वाद एवं हर बार की तरह सांखला प्रिंटर्स का सौहार्दपूर्ण प्रिंटिंग कार्य में सहयोग से पुस्तक प्रकाशित हो रही है।

शिवाकांक्षी

—स्वामी संवित् सुबोधगिरि

मो. 9413769139

राजयोग

हमारी शास्त्र परम्परा के अनुसार परम सत्य परब्रह्म परमेश्वर ने अपने को जीव एवं जगत् के रूप में अभिव्यक्त किया है। इसी अभिव्यक्ति के क्रम में मनुष्य उसकी श्रेष्ठतम-महानतम कृति है। उसमें वही गुण सम्पदा अन्तर्निहित है जो ब्रह्म या ईश्वर में है। ब्रह्म सत-चित्त् आनन्द स्वरूप है। सत्यम् ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म। ईश्वर के विषय में कहा जाता है कि वह षड् ऐश्वर्य से युक्त है—वैराग्य, ज्ञान, ऐश्वर्य, धर्म, श्री एवं यश। इसलिए गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

ईश्वर अंश जीव अबिनाशी।
चेतन अमल सहज सुख रासी॥7/116(ख)/1 मानस

तो अब प्रश्न उठता है, जब मनुष्य परमेश्वर की श्रेष्ठतम कृति है, वह ब्रह्म या ईश्वर ही है या उसके तुल्य है, उसमें वह सारी गुण सम्पदा समायी हुई है जो ब्रह्म या ईश्वर में है, तब फिर मनुष्य स्वयं को दीन, हीन, परतंत्र, अल्प शक्तियुक्त एवं अपने को दुःखी अनुभव क्यों करता है? वह दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति के लिए क्यों भटक रहा है, वह क्यों भिखारी बना हुआ है, याचक बना हुआ है?

चराचर के अन्दर, जीव मात्र के अन्दर नारायण समाए हुए तो हैं पर वह सोए हुए हैं। उन्हें जगाने की जैविक क्षमता केवल मानव शरीर में है। उसके अन्दर सभी ईश्वरीय गुणसम्पदा समायी हुई है, पिहित है, गुम्फित है। उनको साधना, तपस्या, योग, शिक्षा के द्वारा अपिहित करना पड़ता है, प्रकट करना पड़ता है अन्यथा अन्तर के नारायण सदा सोए ही रह जाते हैं।

तो हमारे पास इसे जगाने का, अपने वास्तविक दिव्य स्वरूप को प्रकट करने का साधन क्या है?

मानवीय चेतना के तीन पहलू हैं। जब तक वह सचेतावस्था में है तब तक कुछ न कुछ जान रहा है, कुछ न कुछ अनुभव कर रहा है और कुछ न कुछ संकल्प कर रहा है। इसी को संक्षेप में Knowing, feeling and willing कहते हैं। इसके अनुरूप जीवन के तीन शाश्वत मूल्य हैं—सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्।

सब में सत्य को जानने की प्रवृत्ति है, जिज्ञासा की प्रवृत्ति और इस प्रवृत्ति के आधार पर बहुत कुछ जानता भी है, फिर भी हम ज्ञानी नहीं कहलाते क्योंकि हमने चरम, परम सत्य को नहीं जाना। ज्यों-ज्यों हम सत्य को जानने लगते हैं त्यों-त्यों जिज्ञासा की निवृत्ति होती जाती है। पूर्ण सत्य को जानकर पूर्ण जिज्ञासा की निवृत्ति होती है। ज्ञानयोग का सूत्र पूर्ण को जानो, सत्य को जानो Know the perfect.

रागात्मक प्रवृत्ति का सर्वोच्च मूल्य पश्चिम के विचारकों ने सुन्दरम् को माना। सुन्दर वस्तु, सुन्दर व्यक्ति, सुन्दर स्त्री, सुन्दर बच्चों के प्रति स्वाभाविक राग होता है।

भारतीय विचारकों ने रागात्मक प्रवृत्ति का सर्वोच्च मूल्य भक्ति को माना है, क्योंकि जो जीवन में सबसे अधिक महान् है उसके प्रति सबसे पवित्र एवं पूर्ण निःस्वार्थ अनुराग का नाम भक्ति है। भक्तियोग का सूत्र है Feel for the perfect. पूर्ण का अनुभव करो। उसके मिलन पर, अनुभव पर खुशी के गीत गाओ, उसके विरह में दुःख के आंसू बहाओ, उसके विरह में तड़पो, उससे आध्यात्मिक परिणय कर लो।

मानव की संकल्पात्मक प्रवृत्ति का सर्वोच्च मूल्य शिवम् अर्थात् कल्याण (Goodness) है। संकल्प कर्म का बीज है और कर्म संकल्प का पादप (पौधा) है। संकल्प रूपी बीज सूक्ष्म होने से प्रायः अदृश्य रहता है किन्तु उसी सूक्ष्म बीज से प्रकट होने वाला कर्म रूपी वृक्ष प्रकट एवं प्रत्यक्ष होता है। संकल्प कर्म की मानसिक अवस्था है और कर्म संकल्प का भौतिक एवं शारीरिक संस्करण है। कर्मयोग का सूत्र है पूर्ण के लिए कर्म करो। Act for the perfect.

इन जीवन मूल्यों के अनुरूप ईश्वर प्राप्ति या मोक्ष प्राप्ति के तीन मार्ग हैं—ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग। जीव सीमित चेतना वाला है। ईश्वर समष्टि चैतन्य है, परम चैतन्य है। जीव परम चैतन्य या सर्वव्यापी चेतना को प्राप्त करना चाहता है। व्यक्तिगत चेतना को परम चेतना तक ले जाने के लिए मनुष्य के पास चेतना के अतिरिक्त और कोई सीढ़ी नहीं है।

अब इन (तीनों) वृत्तियों को, प्रवृत्तियों को परमचेतना या भगवान् से जोड़ दें तब भी मोक्ष हो जाएगा और यदि चित्त की वृत्तियों को रोककर चित्त को ही परम सत्य के चिन्तन को धारणा, ध्यान एवं समाधि में लय कर दें तो भी परमेश्वर की प्राप्ति हो जाएगी। यह योग मार्ग है या राजयोग (पातंजल योग) है। राजयोग का सूत्र है Meditate for the perfect.

सामान्यतः नियम है कि जब कोई पूछे तो उसका उत्तर दिया जाए। गीता में प्रायः इस नियम का पालन किया गया है। अर्जुन पूछता है और उसकी शंका का

समाधान करने के लिए, उसकी जिज्ञासा का उत्तर देने के लिए भगवान् अपनी बात कहते हैं। छठे अध्याय में बिना पूछे भगवान् अपनी बात कह रहे हैं। यह भगवान् की करुणा का प्रबल प्रमाण है। शिष्टाचार के अनुसार यह तो ठीक है कि बिना पूछे बात न कही जाए, लेकिन अगर कोई अपना प्रिय शिष्य है, या स्वजन है और विनम्र है, वह सुनने के लिए समर्पण के साथ तत्पर है, तो बिना पूछे भी उसके मंगल के लिए, उसके हित के लिए उसको उपदेश दिया जा सकता है।

अर्जुन द्वितीय अध्याय में भगवान् के शरणापन्न होकर शिष्यत्व को स्वीकारता है—

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥2/7॥

तो अर्जुन की विनम्रता को स्वीकार करते हुए अर्जुन के हित के लिए, अर्जुन के मंगल के लिए भगवान् बिना पूछे अपनी तरफ से उपदेश दे रहे हैं।

दूसरी बात यह है कि पंचम अध्याय के अन्त में उन्होंने ध्यान योग के बीज श्लोक कहे थे, अब प्रभु उसकी विस्तृत व्याख्या कर रहे हैं। ये बीज श्लोक इस प्रकार हैं—

स्पर्शान् कृत्वा बहिर्-बाह्यांश्,-चक्षुश्-चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणा-पानौ समौ कृत्वा, नासा-भ्यन्तर-चारिणौ॥5/27॥
यतेन्द्रिय - मनो - बुद्धिर्, - मुनिर् - मोक्ष - परायणः।
विगतेच्छा-भय-क्रोधो, यः सदा मुक्त एव सः॥5/28॥

हे अर्जुन! बाहर के विषय भोगों को (न चिंतन करता हुआ) बाहर ही रखता हुआ और नेत्रों की दृष्टि को भृकुटी के बीच में (स्थित करके) तथा नासिका में आने-जाने वाले प्राण और अपान वायु को सम करके, जो जीती हुई इन्द्रिय-मन बुद्धि वाला मोक्ष परायण मुनि इच्छा, भय और क्रोध से रहित हो गया है, वह सदा मुक्त ही है।

ये बीज रूप में ध्यान योग के दो श्लोक हैं, इसी का विस्तार छठे अध्याय में हुआ।

राजयोग के साथ इस अध्याय का नाम ध्यान योग भी है। ध्यान योग के साथ इस अध्याय का नाम आत्म-संयम योग भी है। आत्म-संयम का अर्थ होता है—देह-इन्द्रिय-अन्तःकरण और प्राण इनको नियंत्रित रखना, अपने वश में रखना। शरीर-इन्द्रिय, प्राण-मन में अपार शक्ति छिपी है पर ये नियंत्रण में न होने से इसका सदुपयोग नहीं हो पाता है। यह कर्म-संन्यास योग का आगे बढ़ा हुआ हिस्सा है और इसलिए यह ध्यान योग एक ही साथ कर्मांग भी है और ज्ञानांग भी है। जब हम लोग ध्यान करते हैं तो उस ध्यान से कर्म की क्षमता भी बढ़ती है, ज्ञान

का बोध भी सहज होता है। इसलिए ध्यान योग कर्म और ज्ञान दोनों के अभिन्न अंग के रूप में है। यह ठीक है कि ध्यान योग की कई बातें बताई गई हैं लेकिन ये बातें बिल्कुल पातंजल योग का अनुगमन, अनुसरण करती हैं—ऐसा नहीं है। उसमें भी भगवान् कृष्ण ने अपना वैशिष्ट्य रखा है। ध्यान योग का उतना ही अंश इसमें विवेचित है, जो अंश कर्म और ज्ञान की भूमिका को प्रांजल करता है, प्रशस्त करता है और जिन अंशों को हृदयंगम कर लेने से हमारा कर्म और सुगम होता है, निर्दोष होता है, हमारे ज्ञान की साधना और सहज होती है। उतने ही अंश का विवेचन गीता में है।

गीता पातंजल योग के दर्शन को नहीं स्वीकारती। पातंजल योग दर्शन के अनुसार आत्मा अलग-अलग है और ईश्वर पुरुष विशेष है—

क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्ट पुरुषविशेष ईश्वरः

अर्थात् पंच क्लेश (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वैष, अभिनिवेश), सत-असत कर्म, उनके शुभ-अशुभ फल, संचित कर्म इन सबसे अत्यन्त अलिप्त विशिष्ट पुरुष ईश्वर है।

गीता के अनुसार सबमें एक ही आत्मा है, जो आत्मा वही परमात्मा है—

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि, सर्व-क्षेत्रेषु भारत।13/2।

हे भारत! तू सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ भी मुझे ही जान।

पातंजल योग में योग की एक निश्चित, विशेष परिभाषा की गई है—

योगः चित्तवृत्तिनिरोधः॥2॥

अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध, रोकना योग है।

गीता में योग की परिभाषा की गई है जो साधक को साक्षात् या परम्परा से भगवान् से जोड़े। इस दृष्टि से गीता में वर्णित 18 अध्याय 18 प्रकार के योग हैं जो हमें भगवान् से जोड़ते हैं। इसके अलावा योग की तीन परिभाषा और दी गई है—

समत्वं योग उच्यते।2/48।

योगः कर्मसु कौशलम्।2/50।

तं विद्याद् दुःख-संयोग,-वियोगं योग-सञ्ज्ञितम्।6/23।

ऐसे ही गीता में कहा गया है कि योग उसी को सहजता से सधता है जो युक्त आहार-विहार को अपनाता है। योगी को न अतिशय खाना चाहिए और न बिल्कुल कम ही खाना चाहिए तथा न खूब सोना चाहिए और न जागरण ही करना चाहिए। इस प्रकार उसे जीवन का मध्यम मार्ग अपनाना चाहिए एवं अतिशय से

बचना चाहिए। पतंजलि द्वारा उपादिष्ट योग-क्रिया से यह अतिशयता से बचाव बिल्कुल भिन्न है। पातंजल-योग में एक ऐसी विधि का वर्णन किया है जिसके द्वारा योगी शनैः-शनैः अपने जीवन की ऐसी अवस्था में अभ्यस्त हो जाता है कि अन्ततोगत्वा वह खाना-पीना पूर्ण रूप से छोड़ सकता है एवं शरीर और मन को निश्चल बना सकता है। मन को एकाग्र करने में योगी का अन्तिम लक्ष्य मन की चंचलता को समाप्त करना है। पतंजलि के अनुसार योगी के समक्ष चित्तवृत्ति निरोध के रूप में उत्थान एक उद्देश्य रहता है। पूर्ण निरोध शरीर की सम्पूर्ण गतियों को रोके बिना सम्भव नहीं है। इसके लिए इच्छाओं और वासनाओं का मूलोच्छेदन आवश्यक है।

वस्तुतः गीता में कर्मयोग के सहायक के रूप में ही राजयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग की चर्चा है। यद्यपि गीता में भगवद् प्राप्ति के लिए ज्ञानमार्ग, कर्मयोग, राजयोग या ध्यानयोग, भक्तियोग सबकी महत्ता और स्वतंत्र सत्ता स्वीकार की गई है, भगवान् कृष्ण ने तीसरे अध्याय के प्रारम्भ में ही दो निष्ठा की बात स्वीकार की है। शास्त्र ने संन्यास आश्रम को स्वीकार किया है और चौथे आश्रम के रूप में संन्यास प्रतिष्ठित है। भगवान् की वाणी ही शास्त्र है। भगवान् 16वें अध्याय में कहते हैं—

यः शास्त्र-विधि-मुत्सृज्य, वर्तते काम-कारतः।16/23।

अर्थात् शास्त्र विधि का परित्याग नहीं करना चाहिए।

तस्माच्-छास्त्रं प्रमाणं ते, कार्या-कार्य-व्यवस्थितौ।16/24।

कर्तव्य-अकर्तव्य में शास्त्र ही प्रमाण है और शास्त्र ने जब संन्यास आश्रम का निरूपण किया है, संन्यास धर्म का प्रतिपादन किया है। संन्यास श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास और योगशास्त्र सम्मत है। फिर भगवान् कृष्ण को कर्म संन्यास अमान्य हो ऐसा भी नहीं है।

सर्व-कर्माणि मनसा सन्न्यस्य।5/13।
नैव कुर्वन् न कारयन्।5/13।
मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्12/19।
अनिकेतः स्थिर-मतिर्।12/19।
सर्वान् पुमांश्-चरति निःस्पृहः।2/71।
सर्वारम्भ-परित्यागी।14/25।
नैष्कर्म्य-सिद्धिं परमां, सन्न्यासे-नाधि-गच्छति।18/49।

भगवान् 18वें अध्याय में कर्म संन्यास की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण का उद्देश्य अर्जुन को स्वराज्य की, धर्म राज्य की स्थापना के लिए निष्काम कर्मयोग में लगाना है। अभी अर्जुन की 85 वर्ष की अवस्था है, वह कामना की कक्षा पार कर चुका है। अभी ज्ञान योग की पात्रता भी उसमें नहीं है। अतः उसे कर्मयोग में लगाना है और आदर्श कर्मयोगी बनने के लिए उसमें ध्यान का पुट चाहिए, भक्ति का पुट भी चाहिए और ज्ञान का भी पुट चाहिए। इसलिए इन योगों की भी चर्चा गीता में कर्मयोगी के सहायक रूप में की गई है। इसलिए ज्ञान के प्रकाश से, योग साधना द्वारा मन के संयम से और हृदय की श्रद्धा भक्ति से समन्वित होकर निष्काम कर्म किया जाए तो वह गीता की दृष्टि में सबसे विशेष महत्त्व का होगा। आदर्श और सफल कर्मयोगी बनने के लिए वह ज्ञानी, योगी और भक्त भी होना चाहिए।

अब छठा अध्याय आरम्भ होता है। भगवान् कहते हैं—

अनाश्रितः कर्मफलं, कार्यं कर्म करोति यः।
स सन्यासी च योगी च, न निरग्निर्-न चाक्रियः॥6/1॥

अर्थात् जो कर्मफल का आश्रय लिए बिना कर्तव्य कर्म करता है वह एक प्रकार से संन्यासी और योगी ही कहने योग्य है। केवल अग्नि और क्रियाओं का त्याग करने वाला ही संन्यासी और योगी नहीं होता।

पूरी गीता में आन्तरिक संन्यास को ज्यादा महत्त्व दिया है, पर वर्हि संन्यास का निषेध नहीं किया और न ही कर सकते हैं। जब अन्तर संन्यास सध जाता है तो वर्हि संन्यास सहजता से सध जाता है। अन्तर संन्यास के पूर्व, अन्तर्योग्यता के पूर्व जो वर्हि संन्यास लेते हैं वे तमोगुण यानी आलस्य, प्रमाद, जड़ता, निद्रा में, अनावश्यक गतिविधियों में, मादक द्रव्य के सेवन में, कालक्षेप करने लगते हैं। अन्तर संन्यास की योग्यता आती है कर्म फल के त्याग से।

कर्मफल की आशा से जब हम कर्म करते हैं तो योग टूट जाता है। फलाशा के कारण चित्त विक्षिप्त हो जाता है, चंचल हो जाता है और त्याग भी नहीं सध पाता है। कर्मफल की आशा का परित्याग कर देने पर चित्त में विक्षेप की, चंचलता की न्यूनता हो जाती है, इसलिए जीवन में योग की प्रतिष्ठा हो जाती है और कर्मफल का त्याग अपने-आप में संन्यास ही है। इसलिए भगवान् ने कहा फलाशा त्याग करके जब हम कर्म करते हैं तो हमारे जीवन में योग भी चरितार्थ हो जाता है, संन्यास भी चरितार्थ हो जाता है। भले ही हमारे जीवन में कर्म की प्रतिष्ठा हो, लेकिन फलाशा का त्याग कर देने के कारण एक प्रकार से वह योगी ही समझने योग्य है, संन्यासी ही समझने योग्य है। केवल अग्नि और क्रिया का त्याग कर देने मात्र से कोई योगी और संन्यासी नहीं होता।

संन्यासी अग्नि का त्याग कर चुका होता है। विरजाहोम अन्तिम होम है। उसमें आहुति डालने के बाद सदा के लिए अग्नि का त्याग हो जाता है।

आप लोगों को यह बात नहीं समझ में आ रही है। अग्निहोत्र का युग था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य सब अग्निहोत्री होते थे। अग्निहोत्र के आग से ही भोजन बनता था। अग्निहोत्र की आग से शरीर जलता था। गृहस्थ अग्निहोत्र की अग्नि को देवता के समान पालकर रखते थे। भारतीय संस्कृति के शिष्टाचार की एक बात आप सबको बता दूं, एक सद् गृहस्थ जब दूसरे सद् गृहस्थ से मिलते थे, बाल-बच्चों की कुशलता के साथ-साथ अग्निहोत्र की आग की कुशलता भी पूछते थे कि अग्निहोत्र की आग कुशल तो है? अग्नि घर के एक सदस्य के रूप में, प्रतिष्ठित देवता के रूप में मानी जाती थी। इस संस्कृत अग्नि का बहुत महत्त्व था। इस अग्नि को लेकर ही सारा कर्म काण्ड निस्पन्न होता था। अग्नि प्रवृत्ति मार्ग का सूचक है। इसलिए अग्नि का त्याग कर दिया तो कर्म मात्र का त्याग हो जाता था।

संन्यासी अग्नि का परित्याग कर चुका होता है। वह जीते जी अग्नि का स्पर्श न करे और मरने के बाद भी अग्नि से सम्बन्ध नहीं किया जाता है। उनका शरीर शांत होने पर जंगल में गाड़ देते हैं अथवा जल में विसर्जित कर देते हैं। परमार्थतः उनके सारे शरीर में आग ही लगी हुई है। गौरिक वस्त्र धारण प्रदीप्त अग्नि का प्रतीक है। जब सारा शरीर ही अग्निमय हो गया तो अग्नि दाह से क्या प्रयोजन है? इसलिए विधिवत् संन्यास ग्रहण करने वाले का अग्निदाह नहीं होता है। संन्यासी का अग्नि दाह करना शास्त्र निषिध माना गया है, पर अब वह शास्त्रीय युग नहीं रहा।

वास्तव में तो संन्यासी अग्नि का परित्याग कर देते हैं और क्रिया का भी त्याग कर देते हैं, पर इतने में जो अपने को कृत-कृत मान लेता है उससे आगे कुछ साधन अपेक्षित नहीं मानता उसको भगवान् मीठी उलाहना, मीठा प्रहार कर रहे हैं कि इतने मात्र से संन्यासी और योगी कहलाने का अधिकारी नहीं हो जाता।

भगवान् कर्मयोगी की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि गृहस्थ में रहता हुआ वह व्यक्ति फलाशा त्याग करके कर्म करता है, इसलिए वह बाहर से निरग्नि और निष्क्रिय न मालूम पड़ने पर भी वह वस्तुतः संन्यासी ही है, योगी ही है क्योंकि कर्मफल का संन्यास कर चुका है। फलाशा त्याग के कारण विक्षेप का इसमें अब लेश भी नहीं है। अतः कर्म संन्यासी न होने पर भी वह संन्यासी है, निरग्नि न होने पर भी निरग्नि के तुल्य ही है, निष्क्रिय न होने पर भी निष्क्रिय ही है। केवल कोई अग्नि और क्रिया का त्याग कर देने मात्र से संन्यासी नहीं होता।

इस श्लोक में आन्तरिक संन्यास और योग पर महत्त्व दिया गया है। केवल वेशधारी संन्यास पर मीठा प्रहार है। यद्यपि वेश का भी अपना महत्त्व है, यह हमारे भावों की रक्षा में सहायक होता है। इससे एक पहचान भी बनती है।

अतः अधिकृत व्यक्ति योग और संन्यास के मार्ग पर चलकर तदनुकूल वेश धारण करता है तो उसकी निंदा नहीं करनी चाहिए।

योग की परम्परागत परिभाषा क्या है? जो योग करें, जटाजूट धारी हों, भभूत रमाये, अनेक प्रकार के साधन करे, पर अक्रिय हो समाज के लिए कुछ न करे, गीता इसको योग नहीं मानती। कर्म त्यागी को और केवल योग साधना में रत को योगी नहीं मानती।

गीता को अभीष्ट है कि जो कर्मफल का आश्रय त्याग देता है और जो केवल करणीय कर्म करता है उस कर्मयोगी को ही संन्यासी और योगी कहा गया है। उसकी महिमा निरूपित की गई है। कर्मयोग की महिमा के निरूपण के लिए कर्मयोगी को एक साथ संन्यासी और योगी के समतुल्य बताया गया है क्योंकि उसके कदम संन्यास और योग की तरफ बढ़ रहे हैं। इसलिए यहां कर्मयोग की प्रशंसा कर रहे हैं।

यं सन्न्यास-मिति प्राहुर्,-योगं तं विद्धि पाण्डव।

न ह्य-सन्न्यस्त-सङ्कल्पो, योगी भवति कश्चन॥6/2॥

हे अर्जुन! जिसे संन्यास कहते हैं उसी को तू योग जान, क्योंकि (फलविषयक) संकल्पों का त्याग न करने वाला कोई भी व्यक्ति योगी नहीं हो सकता।

संन्यास का अर्थ है त्यागना। त्याग से ही चित्त के अन्दर स्थिरता आती है। जितना बड़ा त्याग होगा उतनी ही चित्त में स्थिरता आयेगी, चित्त समाहित होगा यानी योग हो गया। यदि संकल्प का आप त्याग कर देंगे तो संन्यास हो गया या नहीं? संकल्प के कारण ही चित्त विक्षिप्त होता है। संकल्प का त्याग सध गया तो जीवन में योग भी आ गया। इसलिए जिसने संकल्प का त्याग नहीं किया वह योगी भी नहीं हो पाता। बाहर से आप भले ही आसन लगा लीजिये। केवल आसन लगाकर बैठ जाना ही योग नहीं है। यद्यपि आसन की भी योग में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका है। इसे आगे इसी अध्याय में बतायेंगे।

यहां संन्यास और योग का समान तत्त्व है संकल्पों का त्याग। इसके बिना न संन्यासी बन सकते हैं और न योगी।

अब विचारें संकल्प किसको कहते हैं? संकल्प कहते हैं, सम्यक् कल्पना को। जब किसी वस्तु या स्थिति या व्यक्ति में सम्यकता का हम आरोपण करते

हैं—यह बहुत अच्छा है, श्रेष्ठ है, योग्य है तो फिर उस सम्यकता के आरोपण से यह बात आती है कि वह हमको मिलना चाहिए, हमको ऐसा होना चाहिए। अगर हम रुपये-पैसे, मकान, मोटर-गाड़ी, जेवर, मंत्री-पद, एम.एल.ए., एम.पी. के ऐसे किसी पद में सम्यकता की कल्पना का आरोपण करते हैं, तो फिर हमारी कामना का बीज बनता है। 'संकल्पप्रभवः कामः' सारे काम, सारी कामनाओं का बीज क्या है? संकल्प। बहुत चुनौती के साथ कहा गया है—

काम जानामि मूलं संकल्पात् किल जायते।
न त्वां संकल्पयिष्यामि तेन मे न भविष्यति॥

हे काम! तू मेरे ऊपर आक्रमण मत कर। मैं तेरे मूल को जानता हूं। तू मेरे ऊपर हावी नहीं हो सकता। संकल्पात किल जायते—हे काम! तू संकल्प से उत्पन्न होता है। न त्वां संकल्पयिष्यामि तेन मे न भविष्यति—मैं किसी में भी सम्यकता की कल्पना का आरोप नहीं करूंगा। इसलिए तू भी नहीं होगा। काम तभी होगा, जब किसी स्त्री को पुरुष बहुत अच्छा लगता है तो उसके प्रति मन में काम जागता है। जब कोई स्त्री बहुत अच्छी लगने लगती है, तो उसके प्रति पुरुष के मन में काम जागता है। जब कोई वस्तु, स्थिति बहुत अच्छी लगने लगती है तो उसको पाने की, वैसा बनने की इच्छा होने लगती है। सम्यकता किसी जड़ वस्तु में नहीं है, सम्यकता अनात्मा में नहीं है, जड़ में नहीं, मूलभूत बात यही है। सम्यकता सिर्फ परमात्मा में है, चैतन्य में है। जड़ में जो सम्यकता की कल्पना करता है वह फंस जाता है, वह बंध जाता है। यह शरीर जड़ है। यह तमाम रुपये-पैसे, मोटर-गाड़ी, हीरे-जवाहरात ये सब जड़ हैं। ये तमाम तथाकथित ऊंची-ऊंची पदवियां, ये सब जड़ होता है। इनमें सम्यकता का आरोप होता है। इसमें रमणीयता, शोभन बुद्धि का उदय होते ही उसे प्राप्त करने की कामना उत्पन्न होगी फिर काम-क्रोध-भय-लोभ की परम्परा चल पड़ेगी जिसे तीसरे अध्याय में बहुत सुन्दर रीति से बताया गया है।

न ह्य-सन्न्यस्त-सङ्कल्पो, योगी भवति कश्चन।6/2।—जब तक तुम्हारे मन में भगवान् को छोड़ कर कुछ और पाने की इच्छा है, आत्म स्वरूप को छोड़कर, उस शुद्ध चैतन्य को छोड़कर, अगर किसी और में तुम सम्यकता की कल्पना करते हो तो तुम योगी कहलाने लायक नहीं हो। योगी होने का जो आधारभूत सिद्धान्त है, वह यह है कि तुम को जड़ वस्तुओं के लिए सर्व संकल्प संन्यासी होना होगा। सम्पूर्ण संकल्पों, संकल्प का मतलब यही है कि सम्यकता की कल्पना का त्याग किए बिना कोई योगी नहीं हो सकता। संकल्पों को त्यागे बिना न कर्मयोगी हो सकता है, न संन्यासी हो सकता है और न ध्यान योगी, राज योगी हो सकता है।

एक बहुत बढ़िया श्लोक है—

ऊर्ध्व बाहुर्विशैम्येष नहि कश्चिच्छणोतिमाम्
असंकल्प परम श्रेयः स कथं नैव सेव्यते।

अरे! मैं हाथ उठाकर चिल्ला-चिल्ला कर कह रहा हूं, कोई मेरी बात नहीं सुनता कि—'असंकल्प परमश्रेयः' असंकल्प—किसी जड़ वस्तु, पद आदि को प्राप्त करने का संकल्प न करना ही परम श्रेयस्कर है और किसी वस्तु के प्रति, व्यक्ति के प्रति, स्थिति के प्रति सम्यकता की कल्पना कर लेना ही अकल्याण है। यह जो सर्व संकल्प संन्यास, संकल्पों का संन्यास कर देना, त्याग कर देना यह योगी और संन्यासी का अभयनिष्ठ गुण है। दोनों में ये गुण उपस्थित है। इसलिए संन्यासी और योगी को एक कहा गया है।

आरुरुक्षोर्-मुनेर्-योगं, कर्म कारण-मुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव, शमः कारण-मुच्यते॥6/3॥

योग में आरुढ़ होने की इच्छा वाले मुनि के लिए कर्म ही साधन कहा जाता है और योगारूढ़ हो जाने पर उसके लिए शम (अर्थात सर्व कर्म त्याग) ही (सदा योगरुढ़ता में स्थित रहने के लिए) साधन कहा जाता है।

अब जो मुमुक्षु है, योगारूढ़ होना चाहता है पर अधिकार सम्पदा इतनी उन्नत नहीं है कि सदा के लिए सर्व कर्मों का त्याग कर सके, उसे निष्काम कर्म का आश्रय लेने को कहा जाता है। व्यवहार में आने पर ही अन्दर में जो मल पड़े हैं, चित्त में जो षड़ रिपु यथा—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर पड़े हुए हैं, योग की भाषा में—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश को प्रकट होने का अवसर मिलेगा अन्यथा वे चित्त में बीज बनकर पड़े रहेंगे। जैसे-जैसे निष्काम कर्म करेंगे तो चित्त शुद्ध होता जायेगा वैसे-वैसे योग रूढ़ता की पात्रता आएगी।

और योगारूढ़ हो जाने पर शम यानी सर्व कर्म संन्यास साधन कहा गया है। उसके पूर्व सर्व कर्म संन्यास करने से न माया मिली न राम की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

योगारूढ़ व्यक्ति सर्व कर्म संन्यास का पात्र हो जाता है, पर वह सर्व कर्म संन्यास करेगा ही यह अनिवार्य नहीं है। योगारूढ़ सिद्ध हो जाता है और सिद्ध के लिए शास्त्र न कर्म का विधान करता और न निषेध। वह विधि निषेध से परे हो जाता है, वह कर्म त्याग करेगा या कर्म करेगा यह उसके प्रारब्ध, पूर्व के संस्कार उसके अभ्यास और देश-काल-पात्र-परिस्थिति पर निर्भर करेगा। इस स्थिति में उसके द्वारा जो कर्म होते हैं वे दिव्य कर्म होते हैं, ईश्वरीय प्रेरणा से लोक संग्रह के लिए होते हैं। भगवान् ने स्वयं अपना उदाहरण एवं

राजा जनक का उदाहरण दिया है, उपनिषदों में राजा अश्वपति का उदाहरण आता है।

भगवान् बुद्ध को जब ज्ञान की संबोधी की प्राप्ति हुई तो पहले तो इच्छा हुई कि समाधि के आनन्द में डूबा रहूं, पर बाद में बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय के लिए आजीवन ज्ञान का प्रसाद बांटते रहे। आदि शंकराचार्यजी भी तो योगारूढ़ व्यक्ति थे। योगारूढ़ होते हुए भी उन्होंने कर्म किया कि नहीं किया? शंकराचार्य जैसा कर्म किसने किया? देश के चार कोनों में चार पीठ बनाए। क्यों बनाए? शंकराचार्य के पूर्व संन्यासी परिव्राजक होते थे, आश्रम बनाकर नहीं रहते थे, पर जब जैन और बोद्धों के द्वारा वैदिक सनातन धर्म पर आक्रमण होने लगे तो उसका मुकाबला करने के लिए, वैदिक सनातन धर्म की रक्षा करने के लिए संन्यास आश्रम को संगठित किया। सारे देश की रक्षा के लिए उसे 10 नाम सम्प्रदाय में विभक्त किया। इसी कारण भारत आज एक है। लुप्त तीर्थ परम्परा को पुनः प्रतिष्ठित किया, विपुल भाष्य ग्रंथ, प्रकरण ग्रंथ, स्तुतियां, स्तोत्र लिखे, सारे देश में तीन बार पैदल भ्रमण किया।

याज्ञवल्क्य ऋषि आत्मज्ञान पूर्वक गुरुकुल चला रहे थे। फिर ईश्वर की प्रेरणा से सर्व कर्म संन्यास भी लिया। स्वामी विवेकानन्दजी भी निर्विकल्प समाधि में डूबे रहना चाहते थे, पर गुरु के आदेश से कर्मक्षेत्र में उतरे। इनके द्वारा जो कर्म होते हैं, वे दिव्य होते हैं। लोक संग्रह के लिए, लोक मंगल के लिए, मानसिक शांति के साथ ईश्वरीय प्रेरणा से होते हैं। पूरी गीता में और दो जगह शम शब्द आया है।

बुद्धिर्-ज्ञान-मसम्मोहः, क्षमा सत्यं दमः शमः।10/4।

शमो दमस्-तपः शौचं, क्षान्ति-रार्जव-मेव च।
ज्ञानं विज्ञान-मास्तिक्यं, ब्रह्म-कर्म स्वभावजम्॥18/42॥

ब्राह्मण स्वाभाविक, कर्तव्य कर्म बताते हुए शम शब्द आया है। दोनों जगह शम का अर्थ कर्मों का उपशम (त्याग) नहीं होकर मानसिक शांति है।

अतः योगारूढ़ के द्वारा जो कर्म होते हैं वह मानसिक शान्ति के साथ ईश्वरीय प्रेरणा से लोक संग्रह के लिए, लोक मंगल के लिए दिव्य कर्म, लीला कर्म होते हैं।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु, न कर्मस्वनु-षज्जते।
सर्व-सङ्कल्प-सन्न्यासी, योगारूढस्-तदोच्यते॥6/4॥

जिस समय न तो इन्द्रियों के भोगों में और न कर्मों में ही आसक्त होता है उस काल में सर्व संकल्पों को त्यागने वाला पुरुष योगारूढ़ कहा जाता है।

योगारूढ़ व्यक्ति के भोग विषयक, कर्म विषयक सब संकल्प स्वाभाविक रूप से छूट जाते हैं। ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों, दोनों में अपने-अपने विषयों में न

प्रवृत्ति होती है और न प्रीति शेष रहती है, न विषयों के प्रति आकर्षण होता है और न विकर्षण, तब कर्म एवं कर्म विषयक संकल्प स्वाभाविक रूप से छूट जाते हैं। इस स्थिति में ज्ञानेन्द्रियों में विषयों के प्रति प्रीति और प्रवृत्ति नहीं रह जाएगी और न कर्मेन्द्रियों में कर्म के प्रति प्रीति और प्रवृत्ति रह जाती है। इन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों) का अपने-अपने विषय में राग-द्वेष होता है, उसके आधार पर उनमें प्रवृत्ति-निवृत्ति होती है। पांचों इन्द्रियों के अपने-अपने राग हैं। शब्द से लुब्ध होकर हिरण अपना प्राण गंवाता है, स्पर्श से लुब्ध हाथी बंदी हो जाता है, रूप से लुब्ध होकर पतंगा अपना प्राण गंवाता है, रस के लोभ में मछली पकड़ी जाती है और गंध से लुब्ध होकर भौरा प्राण गंवाता है। मनुष्य में तो पांचों विषय प्रबल हैं। नारी में यह पांचों रस हैं। फिर ब्रह्माजी ने हमारी ज्ञानेन्द्रियों को बर्हिमुखी बनाकर हमारी हत्या कर दी जिससे बाहर के विषयों पर ही हमारी दृष्टि जाती है, हम अपने अन्तर में नहीं झांक पाते हैं, जहां हमारे नारायण का वास है, आत्मा का वास है। वैसे तो पांचों विषय प्रबल हैं उसमें दो विशेष प्रबल हैं—रसना और उपस्थ। प्रभु राम ने वनवास काल में, वन में पहुंचकर, लक्ष्मण से कहा—वन देवता से यहां रहने की अनुमति ले आओ। तब लक्ष्मण ने बताया उसे वन देवता तो नहीं मिले, पर हरे रंग का व्यक्ति दिखा जो एक हाथ अपने रसना पर रखे हुए था और एक हाथ उपस्थ पर। तब प्रभु राम ने कहा—जिसका रसना और उपस्थ वश में है वही वन में रह सकता है, यह संकेत वन देवता ने किया है। जिसने पांचों विषयों को, इन्द्रियों को जीत लिया वही विश्व विजयी है, योगारूढ़ है।

अनादिकाल से ही योगारूढ़ता में कइयों को भ्रान्ति हुई है। नारदजी गौरी शिखर पर तपस्या कर रहे थे। इन्द्र को भय हुआ कि ये देवर्षि तो हैं ही, तप करके ये देवेन्द्र भी आसानी से बन सकते हैं। अतः इनकी तपस्या में विघ्न डालना चाहिए। इन्द्र ने नारद के तपोविघ्नार्थ अप्सराओं को भेजा, किन्तु नारदजी टस से मस नहीं हुए। अप्सराओं में श्रेष्ठ उर्वशी, रम्भा, तिलोतमा आदि को भेजा, लेकिन नारदजी डिगे नहीं। एक बार इन अप्सराओं का जमघट देखकर नारदजी को गुस्सा आया और श्राप देकर भस्म करने को तैयार हुए। तब अप्सराएं नारदजी के चरणों में पड़ीं, बोली—क्षमा करो, भगवन्! नारदजी ने कहा—क्षमा मांगी जाती है अनजाने में हुए अपराध के लिए। तुम सबने जानबूझकर अपराध किया यह सिद्ध होता है। तुमने ऐसा अपराध क्यों किया? अप्सराएं बोली—हम पराधीन हैं। आपकी तपस्या में विघ्न डालने इन्द्र ने हमें भेजा। हमें आना पड़ा। तब नारदजी को समझ में आया कि मेरे तपोविघ्नार्थ ही ये आयीं। उन्हें माफी देकर नारदजी ने वापिस भेजा, किन्तु नारदजी को इतना अभिमान अवश्य हो गया कि अब मैं सिद्ध हो गया, योगारूढ़ हो गया। इन्द्र की परीक्षा में पार जो हो गया। नारदजी अपनी

महिमा स्थापित करने के लिए ब्रह्माजी के पास, शंकरजी के पास और अन्त में विष्णु के पास भी गए। यह कथा रामायण में प्रसिद्ध है। और किस प्रकार वे काम, क्रोध, लोभ तीनों के शिकार हुए तब उन्हें योगारूढ़ की जो भ्रान्ति हुई थी वह टूटी।

इसी प्रकार जांजलि ने चिड़िया को योगाग्नि से जलाया तो समझने लगे कि में सिद्ध हो गया। फिर किस प्रकार उनकी भ्रान्ति दूर हुई यह कथा महाभारत में बड़ी सुन्दर रीति से आयी है।

वेदव्यासजी ने एक ग्रन्थ लिखा। वह ग्रन्थ उन्होंने शिष्य जैमिनी को पढ़ने के लिए दिया। जैमिनी पूर्व मीमांसा का प्रणेता। वह कोई सामान्य व्यक्ति नहीं था। जैमिनी ने सम्पूर्ण ग्रन्थ को पढ़ा और वेदव्यास से कहा, 'ग्रन्थ का सब लेखन ठीक है, परन्तु एक बात तनिक-सी अखरती है। आपने लिखा है, इन्द्रियां बलवती हैं जो विद्वान् को भी अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। इन्द्रियां सामान्य व्यक्ति को खींचती हैं, यह ठीक है परन्तु विद्वान को भी खींचती हैं, यह ठीक नहीं लगता।' कुछ दिन पश्चात् चमत्कार हुआ। वर्षा काल में, संध्या के समय अकस्मात् बादल, बिजली और थोड़ी देर में वर्षा उतर आयी। अकस्मात् वर्षा होने से जैमिनी बाहर देखने आये तो देखा, बाहर वृक्ष के नीचे एक षोड़शी सुन्दरी वर्षा में भीगी हुई ठण्ड से कांप रही है। उसे पर्णकुटी में बुलाया, एक कक्ष दिया, स्वयं अपने कक्ष में चले गये। मन विचलित हुआ, उसके कक्ष में गये, उसे वस्त्र बदलने को कहा। उसके पास वस्त्र नहीं होने से, वल्कल दिये पहनने को और उसे अपने कक्ष में भेज दिया जहां अंगीठी भी थी जिससे वह अपने शीत का वारण कर सके। वल्कल पहनने पर सुन्दरता और निखर गयी। वार्ता के क्रम में जाना कि वह अविवाहिता है। अतः विवाह का प्रस्ताव रखा। उसने विवाह की शर्त बतायी, बड़े संकोच के साथ कि जो व्यक्ति भूमि पर हाथ टेककर घोड़ा बनेगा, उस घोड़े पर मैं बैठूंगी फिर उसी अवस्था में अग्नि की चार परिक्रमा करेगा, प्रत्येक परिक्रमा पूर्ण होने पर वह व्यक्ति गधे जैसी आवाज करेगा, उसी से मैं विवाह करूंगी। यहां तो देखने वाला कोई है नहीं। अतः शर्त पूरी की। अन्तिम परिक्रमा पूर्ण होने पर गधे जैसी आवाज निकालकर शर्त पूर्ण करने के आनन्द में गर्दन उठाकर देखा तो पीठ पर वेदव्यासजी बैठे हैं!

भगवान् शंकर और सती राम कथा सुनने के लिए महर्षि अगस्त्य की कुटिया में जाते हैं। भगवान् शंकर और मां पार्वती को देखकर महर्षि उन्हें प्रणाम करते हैं, तो सती को संशय होता है कि हमको प्रणाम करने वाला क्या कथा सुनायेगा। अतः कथा में मन नहीं लगा। फिर सती को संशय होता है राम को सीता के लिये विलाप करते हुए देख करके कि यह प्रभु कैसे हो सकते हैं?

स्पष्ट है कि बड़ों-बड़ों को योगारूढ़ता के विषय में भ्रान्ति हो जाती है। अतः जीवन भर इस संदर्भ में सावधान रहने की आवश्यकता है। एक महात्मा को

एक भक्त ने जिज्ञासा की कि आपका जीवन निभ गया। महात्माजी ने कहा इसका उत्तर यथा समय दूंगा। बीच-बीच में भक्त जिज्ञासा करता रहा और संत यथा समय उत्तर दूंगा कहकर टालते रहे। अचानक उनका देहावसन हो गया। वह भक्त जोर-जोर से विलाप करने लगा कि मेरी जिज्ञासा का उत्तर दिए बिना चले गए। अन्य शिष्य-भक्तों ने कहा मृत्यु पर किसी का वश है क्या? संत के मृत शरीर ने उठ कर कहा—हां निभ गया। उस भक्त ने कहा यह उत्तर पहले भी दे सकते थे, इसको टालने की क्या आवश्यकता थी? तब महात्माजी ने कहा कि जीवन-काल में यह कैसे कह सकता था? जब मेरा जीवन और प्रारब्ध शेष था। कहीं मैं देवर्षि नारद की तरह, राजा भरत की तरह फिसल ना जाऊं, इसको दृढ़ निश्चय के साथ कैसे कह सकता था? अब कह सकता हूं, जीवन निभ गया। अतः इस संदर्भ में जीवन के अंत तक सावधानी आवश्यक है।

अतः योगारूढ़ में विषयों में प्रवृत्ति-निवृत्ति, राग-द्वेष के आधार पर नहीं, आवश्यकतानुसार शरीर निर्वाह के लिए होती है, कर्म में प्रवृत्ति लोक मंगल के लिए होती है या फिर नहीं होती। जिसने लोक-परलोक के किसी भी व्यक्ति, वस्तु, स्थिति, पद पर सम्यक् कल्पना का आरोपण करके रमणीयता का आरोप करके प्रिय मानना छोड़ दिया है वही योगारूढ़ है।

गीता के दूसरे अध्याय में, भगवान् ने जिसे ब्रह्मज्ञानी, जीवन मुक्त पुरुष स्थितप्रज्ञ के लक्षण में बताया है, तीसरे अध्याय में उसी को नेष्कर्म्य अवस्था कहा गया है। पंचम अध्याय में उसी को कर्म-संन्यास कहा गया है। छठे अध्याय में उसी को योगारूढ़ कहा गया है। उसी को आगे 12वें अध्याय में प्रिय भक्त, 13वें अध्याय में ज्ञान योगी, और 14वें अध्याय में गुणातीत बताया जाएगा।

ऐसे योगारूढ़ हम-आप हो सकते हैं। भगवान् गीता में कहते हैं—जरूर हो सकते हैं। एक बात गांठ बांध लीजिये। गीता प्रारब्ध का ग्रंथ नहीं है, गीता पौरुष का ग्रंथ है। गीता में भगवान् ने कहा है **पौरुषं नृषु** (7/8)। मनुष्यों में पौरुष हूं। भगवान् ने जब अपना रूप बताया तब बताया मैं कहां-कहां, क्या-क्या हूं? वहीं गीता में भगवान् कहते हैं—**पौरुषं नृषु,** मनुष्यों में पौरुष हूं। अतः सही पुरुषार्थ से हम योगारूढ़ हो सकते हैं।

योगारूढ़ होने की साधना कर्मयोग से प्रारम्भ होती है। कर्तापन और भोक्तापन को छोड़ने की कला कर्मयोग है। जैसे-जैसे कर्मयोग में स्थित होते जायेंगे वैसे-वैसे कर्म संन्यास, सर्वसंकल्प संन्यास की ओर बढ़ने की पात्रता आती जाएगी। तब ज्ञानेन्द्रियों में विषयों के प्रति प्रीति-प्रवृत्ति शेष नहीं बचेगी, कर्मेन्द्रियों में कर्म के प्रति प्रीति-प्रवृत्ति शेष नहीं रहेगी और चित्त धारणा, ध्यान,

समाधि में स्थित हो जाएगा। इस प्रकार योग के सोपान पर चढ़ते-चढ़ते योगारूढ़ हो जाते हैं।

इसे हम रमण महर्षि के जीवन में, रामकृष्ण परमहंस के जीवन के अन्तिम कष्टमय स्थिति में स्पष्ट रूप से देखते हैं। स्वामी रामतीर्थ, स्वामी विवेकानन्दजी के जीवन में देखते हैं। प्रभु रामचन्द्रजी के जीवन में यही दृश्य देखते हैं—हमको चक्रवर्ती साम्राज्य प्राप्त होगा यह सुनकर रामजी के मुखमण्डल में अतिरिक्त प्रसन्नता नहीं झलकती, और फिर प्रातः ही चौदह वर्षों के लिए वनवास जाना है, जानकर जिनके मुखमण्डल पर दुःख की छाया नहीं आयी। खिले हुए कमल के समान जैसे पहले मुख शोभा थी वैसी ही बाद में भी बनी रही। ऐसी योगारूढ़ की स्थिति गुरु गोविन्द सिंह और बंदा वैरागी के अन्तिम दारुण कष्टमय, वेदनामय जीवन में भी देखते हैं।

उद्धरे-दात्म-नात्मानं, नात्मान-मवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धु,-रात्मैव रिपु-रात्मनः॥6/5॥

बन्धु-रात्मात्मनस्-तस्य, येनात्मै-वात्मना जितः।
अनात्मनस्-तु शत्रुत्वे, वर्ते-तात्मैव शत्रुवत्॥6/6॥

अपने द्वारा अपना उद्धार करें, अपने को अधपतित न करें, क्योंकि मनुष्य आप ही अपना मित्र है तथा आप ही अपना शत्रु है।

जिस आत्मा (अर्थात् जीव) के द्वारा आत्मा (अर्थात् शरीर-मन-इन्द्रियां) जीत लिया गया है उस आत्मा (अर्थात् जीव) का आत्मा मित्र है, किन्तु जिसके द्वारा आत्मा नहीं जीता गया उस जीव का आत्मा ही शत्रु की भांति शत्रुता का व्यवहार करता है।

भारतीय शास्त्र के अनुसार एक ही चेतन तत्त्व, आत्मतत्त्व, ब्रह्मतत्त्व, ईश्वर तत्त्व ने अपने आपको जीव एवं जगत् के रूप में अभिव्यक्त किया है। अतः प्रत्येक जीव में नारायण समाए हुए हैं। उसको जगाने की जैविक क्षमता केवल मानव शरीर में है, क्योंकि मानव शरीर एक मात्र भोग योनि के साथ-साथ कर्मयोनि है। उसे कर्म की स्वतंत्रता प्राप्त है। अतः मानव शरीर से ही विकास की ओर, पूर्णता की ओर, सत-चित्त आनन्द की ओर यात्रा सम्भव है। यदि उसे सही दृष्टि, सही शिक्षा, सही संस्कार, सही परिवेश मिले और उसके अनुसार सही प्रयास करे तो विकास की सर्वोच्च स्थिति, नारायण बन सकता है और इसके अभाव में पतन की भी कोई सीमा नहीं। वह मनुष्य से च्युत पशु बनेगा और पशुत्व से भी च्युत होकर नर पिशाच बनेगा।

पश्चिम में अपूर्ण-एकांगी, आसुरी विचार धारायें आयीं जिसने मनुष्यों को जाने-अनजाने में पतन की ओर, पाप की ओर धकेल दिया। पश्चिम के विचारक

अपने विचार की, दर्शन की यात्रा यूनान से प्रारम्भ करते हैं। अरस्तू जिसे Father of all sciences कहा जाता है और पश्चिम उसे अपना विचारों का जनक मानता है, वह कहता है Man is rational animal मनुष्य एक बौद्धिक प्राणी है। यह परिभाषा अधूरी है। बौद्धिकता पर नैतिकता का और नैतिकता पर आत्मा का अंकुश होना चाहिए। इसके अभाव में बौद्धिकता विकृति की ओर, असत्य की ओर, पशुता और पैशाचिकता की ओर चली जाती है। यही कारण है कि पश्चिम सभ्य धूर्त्त पैदा कर रहा है। असत्य को सत्य, और सत्य को असत्य सिद्ध कर रहा है।

सेमिटिक परम्परा, विशेष कर ईसाई धर्म, मनुष्य को पाप की संतान मानता है। आदम और होव्वा का स्वर्ग में निषिद्ध फल खा लेना मूल पाप है और वह पाप से तब तक मुक्त नहीं हो सकता जब तक ईसा मसीह को व्यक्तिगत मुक्तिदाता न स्वीकारे, भले ही वह कितना ही पुण्यात्मा हो, सदाचारी हो, धर्मात्मा हो, चाहे वह स्वामी रामकृष्ण परमहंस हो, या रमण महर्षि या स्वामी विवेकानन्द, गांधी, सुभाष हो। अगर मूल प्रकृति में, स्वभाव में दोष हो तो उसमें सुधार सम्भव नहीं। कोयले को कितना ही धोयें उसे श्वेत नहीं कर सकते क्योंकि मूल में ही काला है, पर सफेद वस्त्र में प्रमाद से पड़े काले धब्बे को साबुन या पेट्रोल या अन्य साधन से मिटा सकते हैं।

ईसाइयत के मूल में ही दोष होने से, विकृति होने से ईसाइयत के इतिहास में एक भी पुण्यात्मा खोज पाना कठिन है।

अगर पाप जीवन का मौलिक अंग होता तो रत्नाकर डाकू देवर्षि नारद के सद् शिक्षा से महर्षि वाल्मीकि नहीं बन सकता। काम में अंधा रामबोला पत्नी के प्रबोधन से महात्मा तुलसीदास नहीं बन सकता। बिगड़ा हुआ बनिये का बच्चा मां द्वारा राम नाम की शिक्षा से महात्मा गांधी नहीं बन सकता। अतः पाप जीवन का मौलिक अंग नहीं अज्ञान से आरोपित है।

यदि हम न्यूटन की तरह मानेंगे कि सृष्टि की तरह मानव शरीर भी नियमबद्ध यंत्र है जो कार्य-कारण की शृंखला से बंधा हुआ है, जिसमें स्वतंत्र इच्छा का कोई स्थान नहीं है, उसका अच्छा-बुरा होना, पापी-पुण्यात्मा होना तंत्रिका तंत्र का शरीर रचना का परिणाम है। ऐसा मानने पर मनुष्य को न उसके अच्छे-बुरे कर्म के लिए उतरदायी ठहराया जा सकता है और न कभी वह अपना सर्वांगीण विकास ही कर सकता है।

अगर हम डार्विन की तरह मानेंगे कि हम पशुओं की, बंदरों की संतान हैं तो उसमें पशुता, नग्नता का ही फूल खिलेगा। उसमें मनुष्यत्व, देवत्व, ब्रह्मत्व के फूल नहीं खिल सकते हैं। यही कारण है आज पश्चिम ज्ञान-विज्ञान, सभ्यता-संस्कृति कला-कौशल की दृष्टि से चरम पर होने के बाद भी वहां के मनुष्य नर-पशु, नर-

पिशाच बने हुए हैं। अपसंस्कृति पूरे पश्चिम को निगल रही है और उसका प्रभाव अपने देश भारत पर भी पड़ रहा है।

स्पष्ट है अपने को पशु या बंदर की संतान मानकर हम अपना ऊर्ध्वगामी विकास, चेतना की ओर पूर्णता की ओर नहीं कर सकते।

यदि हम मानेंगे कि हम काम के पुत्र हैं, जैसा कि फ्रायड मानता है, तो हम जीवन में काम की दासता में फंसे रहेंगे। उसे आधुनिक मनोविज्ञान का जनक माना जाता है, उसने पूरे पश्चिम जगत् के साथ सारे विश्व को प्रभावित किया है। उसका कथन है कि मनुष्य में काम की प्रवृत्ति ही एकमात्र जीवन प्रवृत्ति है अन्य सभी प्रवृत्ति मृत्यु-प्रवृत्ति है। वह मनुष्य की सारी चेष्टाओं में, प्रवृत्ति में, प्रकृति के सौन्दर्य आदि सब में कामतत्त्व का ही दर्शन करता है। अगर हम फ्रायड की तरह स्वयं को काम का पुत्र मानेंगे, वासनाओं का बंडल मानेंगे तो जीवन में कभी काम की दासता से मुक्त नहीं हो सकते। हमारे जीवन में निर्वासना, निर्विकारता, शुद्धता, पवित्रता कभी नहीं आ सकती। यही कारण है कि आज पूरा विश्व काम की दासता में जकड़ता जा रहा है।

हम स्वयं को अर्थ का पुत्र नहीं मानते जैसा कि मार्क्स मानता है। मार्क्स और पश्चिम के अर्थ शास्त्र की तीन मूलभूत मान्यताएं हैं—मनुष्य जन्म से स्वार्थी है, मनुष्य का अन्तिम स्वर्णिम लक्ष्य अर्थ की प्राप्ति है और अर्थ के व्यापार में नैतिकता का कोई दखल नहीं होना चाहिए, यानी जीवन का सारतत्त्व अर्थ है। जीवत्व, धर्म, अध्यात्म, नैतिकता, सभ्यता, राजनीति आदि सभी कुछ अर्थ के अधीन है। अर्थ को सर्वोपरि मानने से अर्थ प्राप्ति के सब साधन नैतिक-अनैतिक भ्रष्ट एवं निन्दित मार्ग सभी उचित बन गए। मनुष्य अर्थ के लिए धर्म, नैतिकता, देशहित, स्वजन-सम्बन्धी सभी कुछ को बेचने के लिए, छोड़ने के लिए उद्यत हो गया। बाप-बड़ा न भैया, सबसे बड़ा रुपया, रुपया खुदा तो नहीं है पर खुदा से कम भी नहीं है। स्पष्ट है कि हम अपने को केवल अर्थ का पुत्र मानेंगे तो आर्थिक दासता से कभी मुक्त नहीं हो सकते।

अगर हम अपने को एडलर की तरह अहम् का पुत्र मानेंगे तो जीवन में कभी निरभिमानता, विनय का भाव आ नहीं सकता।

जन्म से हम कोई कोरी स्लेट नहीं हैं, जैसा कि अनुभववादी दार्शनिक लॉक मानता है, जिसमें जो चाहे लिखा जा सके। यदि ऐसा होता तो अब तक अपनी कल्पना का मनुष्य साकार हो जाता।

न मनुष्य कच्ची मिट्टी का लोंदा है उसे जैसा चाहे आकार दे सकें, और न वह शिलाखण्ड है कि जैसी चाहे उसमें से मूर्ति तराश सकें।

पश्चिम के इन आधे-अधूरे, एकांगी अध्ययन ने, पाश्विक पक्ष के अध्ययन ने, उसमें विद्यमान दैवी तत्त्व, ईश्वरीय तत्त्व, आत्म तत्त्व की अवहेलना करके मनुष्य को अपनी वृत्तियों, परिस्थितियों का दास बनाकर मनुष्य को अपने अच्छे-बुरे कर्मों के उत्तरदायित्व से मुक्त कर उसके पतन का मार्ग, विषयों की, इन्द्रियों की, मन की दासता का मार्ग प्रशस्त कर दिया और उत्थान का मार्ग यानी विषयों पर, इन्द्रियों पर, मन पर, वृत्तियों पर, परिस्थितियों पर विजय का मार्ग अवरुद्ध कर दिया। मनुष्य स्वयं अपना शत्रु सिद्ध हो रहा है।

भारतीय मनीषियों ने मनुष्य के अन्दर विद्यमान जीवत्व को, अर्थ, काम, अहम को अस्वीकार नहीं किया, पर उसे परम सत्य, एकमात्र सत्य मानकर एकांगी, अधूरी व्याख्या नहीं की। मनुष्य के अन्दर विद्यमान दैवीय पक्ष, ईश्वरीय पक्ष, नारायणत्व को भी स्वीकारा। मनुष्य के अन्दर विद्यमान दिव्यता को, पूर्णता को, पवित्रता को, निष्कामना को भी स्वीकार किया। इसे ही परम सत्य माना, परम लक्ष्य माना। इस प्रकार मनुष्य की समग्र, सर्वांगीण, पूर्ण व्याख्या का प्रयास किया। इसलिए शरीर के साथ इन्द्रिय, मन, बुद्धि और आत्मा को माना जो उत्तरोत्तर, श्रेष्ठ, बली और व्यापक है। इसलिए शरीर और इन्द्रियां मन के द्वारा नियंत्रित होनी चाहिए, मन बुद्धि के द्वारा नियंत्रित होवे, बुद्धि आत्मा द्वारा नियंत्रित होनी चाहिए। यानी विषय इन्द्रियों के द्वारा, इन्द्रियां मन के द्वारा, मन बुद्धि के द्वारा और बुद्धि नैतिकता द्वारा, नैतिकता, ईश्वरोन्मुखी या अध्यात्मोन्मुखी, आत्मोन्मुखी होनी चाहिए। यह उत्थान का मार्ग पूर्णता की ओर जाने, ईश्वर, आत्मा-ब्रह्म, सत-चित-आनन्द की ओर जाने का मार्ग है। तब हम स्वयं के मित्र सिद्ध होते हैं और विकास की ओर पूर्णता की ओर चलकर पूर्णता लाभ करते हैं, मोक्ष लाभ करते हैं।

इसके विपरीत जब विषयों द्वारा इन्द्रिय नियंत्रित हो, मन इन्द्रियों द्वारा नियंत्रित हो, बुद्धि मन के अनुसार चले वह पतन का मार्ग है, स्वयं के प्रति शत्रुता का मार्ग है, गिराने का, मनुष्यत्व से च्युत होकर पशुत्व में, पशुत्व से च्युत होकर पिशाचत्व में जाने का मार्ग है।

मनुष्य में यह सामर्थ्य है कि वह उत्थान के मार्ग पर चलकर सर्वोच्च लक्ष्य पूर्णता को प्राप्त कर सके। इसलिए गीता कहती है कि मनुष्य स्वयं ही अपना उद्धार करने वाला है। इसके लिए भारतीय मनीषियों ने मनुष्य के समक्ष चार आदर्श, चार पुरुषार्थ रखे। इसके अन्तर्गत मानव की सभी कामनाएं आ जाती है, धर्म-अर्थ काम और मोक्ष। अर्थ और काम धर्म और मोक्ष के द्वारा नियंत्रण में रहकर ही व्यक्ति और समाज दोनों के लिए शुभ एवं मंगलकारी होते हैं। धर्म और मोक्ष के प्रकाश में अर्थ और काम को, अपनी वृत्तियों एवं परिस्थितियों को जीतकर मन

को जीत सकते हैं। मन को अपने वश में, अनुशासन में ला सकते हैं और जीता हुआ मन ही मोक्ष का, पूर्णता का परम शांति का हेतु बनता है।

जिसका जितना अपने मन पर नियंत्रण है, जो मनमुखी नहीं, आत्ममुखी है, गुरुमुखी है, ईश्वरमुखी है वही योगारूढ़ हो सकता है। योगारूढ़ ही अपने उद्धार के साथ सारे समाज, देश, विश्व का उद्धार कर सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पश्चिम का चिन्तन है कि हम मन को जीत नहीं सकते, अर्थ और काम से, अपनी वृत्तियों और परिस्थितियों से ऊपर नहीं उठ सकते, पर भारत का चिन्तन हैं हम अर्थ और काम पर, अपनी वृत्तियों एवं परिस्थितियों से ऊपर उठकर मन को जीत कर स्वयं अपना, समाज, देश, विश्व का उद्धार कर सकते हैं। भारत का इतिहास प्रारम्भ से आज तक ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है।

पश्चिम स्वयं ही स्वयं का शत्रु सिद्ध हो रहा है। अर्थ और काम का, वृत्तियों एवं परिस्थितियों का वशवर्ती बनकर और पतन की ओर क्षय की ओर जा रहा है। इसको स्वयं पश्चिम के मनीषी कह रहे हैं और इससे उबरने के लिए उनकी दृष्टि एकमात्र भारत पर है, भारत ही आशा का केन्द्र है।

पश्चिम की परम्परा में मनुष्य मूलतः पापी है, पशु है, कामी है, अर्थ का दास है, अहम का पुतला, कार्य-कारण की श्रृंखला से बंधा नियमबद्ध यंत्र है। अतः शरीर की रचना ही ऐसी है कि वह इन सबसे यानी अपनी वृत्तियों एवं परिस्थितियों से कभी ऊपर उठ नहीं सकता। अपने स्वार्थ के अलावा किसी महत् लक्ष्य के लिए उसके जीवन में कोई स्थान नहीं हो सकता। मन को जीता नहीं जा सकता। वह ऊपर लिखित वृत्तियों से ही प्रेरित एवं संचालित होता है। मन का उर्ध्वगमन सम्भव नहीं है।

भारतीय शास्त्र परम्परा कहती है, मनुष्य केवल पंचभूतों का ही पुतला मात्र नहीं है। अगर वह केवल पंचभूतों का मात्र पुतला होता तो जिन्हें तीनों ऐषणायें यानी रोटी, कपड़ा, मकान, संतान एवं सम्मान प्राप्त है उन्हें तो पूर्ण संतुष्ट, सुखी रहना चाहिए, पर ऐसा अनुभव में नहीं आता। अमरीका आदि यूरोपीय देश सुखी होने चाहिए, पर ऐसा नहीं है।

मानव इन आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ इनकी दासताओं से मुक्त होकर मुक्त गगन में विहार भी करना चाहता है। वह देश-काल की सीमाओं को लांघकर सर्वव्यापक, सार्वभौम, सार्वजनिक होना भी चाहता है, क्योंकि वह मूलतः आत्मा है जो देश, काल वस्तु के बंधन से मुक्त है। अनादि अज्ञान के कारण उसने अपने ऊपर शरीर, मन आदि का आरोपण कर लिया है। इन आवरणों एवं बंधनों से वह

मुक्त भी हो सकता है, इनसे ऊपर भी उठ सकता है। इस प्रकार भारतीय मनीषा के अनुसार मन को जीता जा सकता है और उसी के लिए मानव शरीर मिला है, इसी में मानव शरीर की सार्थकता है, महत्ता है, अपूर्वता, विशेषता है और जीता हुआ मन ही हमें मूल की ओर ले जाता है। तो जीते हुए मन की क्या परिणति है, उसकी पहचान क्या है, उसकी विशेषता या लाभ क्या है वह अगले तीन श्लोकों में बताएंगे जो इस प्रकार हैं—

जितात्मनः प्रशान्तस्य, परमात्मा समाहितः।
शीतोष्ण-सुख-दुःखेषु, तथा मानाप-मानयोः॥6/7॥

सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख तथा मान-अपमान आदि में जिसने मन को नियंत्रित कर लिया है, मन इनसे विचलित नहीं होता है ऐसा शांत चित्त, प्रसन्नचित्त व्यक्ति या साधक परमात्मा में स्थित हो गया है, समाहित हो गया है।

ज्ञान-विज्ञान-तृप्तात्मा, कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी, सम-लोष्टाश्म-काञ्चनः॥6/8॥

जिसका अंतःकरण ज्ञान और विज्ञान (उसके अनुभव) से तृप्त है, जो अविचल है और जो जितेन्द्रिय तथा मिट्टी के ढेले पत्थर व सोने में समबुद्धि वाला है, वह योगी युक्त अर्थात् समाधिस्थ कहा जाता है।

सुहृन् -मित्रार् -युदासीन, -मध्यस्थ -द्वेष्य -बन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु, सम-बुद्धिर्-विशिष्यते॥6/9॥

सुहृद मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य एवं बंधुओं में, सज्जनों में और पापियों में भी समान बुद्धि रखने वाला (व्यक्ति) श्रेष्ठ है।

सृष्टि का फूल प्रकृति के तीन गुणों की विषमता में खिलता है और विषमता पर्यन्त सृष्टि का अस्तित्व रहता है। यह सृष्टि द्वन्द्वमयी है, निर्द्वन्द्व तो एकमात्र आत्मा-परमात्मा है। द्वन्द्व सदैव जोड़े से रहते हैं। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व नहीं, अतः शीत-उष्ण, सुख-दुःख, मान-अपमान, अंधकार-प्रकाश, जीत-हार, शत्रु-मित्र, अपने-पराये, प्रिय-अप्रिय, अनुकूल-प्रतिकूल आदि द्वन्द्वों में अपने मन को सम कर पाता है वही योगी है, योगारूढ़ है, ब्रह्म में स्थित है। वही जीतेजी संसार को जीतकर ब्रह्म में, योग में स्थित हो जाता है। इसलिए भगवान् पांचवे अध्याय के 19वें श्लोक में कहते हैं—

इहैव तैर्-जितः सर्गो, येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म, तस्माद्-ब्रह्मणि ते स्थिताः॥5/19॥

जिनका मन समभाव में स्थित है, उनके द्वारा जीवित अवस्था में ही संसार जीत लिया गया है। क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है, इसलिए वे ब्रह्म में ही अवस्थित है।

अतः योगारूढ़ होने के लिए, आत्म साक्षात्कार या ब्रह्म में स्थित होने के लिए द्वन्द्वों में मन की समता अनिवार्य है।

योगी युञ्जीत सतत,-मात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यत-चित्तात्मा, निराशी-रपरिग्रहः॥6/10॥

योगी अकेला एकान्त में रहता हुआ अन्तःकरण और शरीर को वश में रखने वाला, आशा-रहित होकर और संग्रह रहित होकर अपने अन्तःकरण को निरन्तर युक्त करे अर्थात् परमात्मा यानी आत्मा में लगाए।

कर्मयोग की साधना करके अर्थात् अपने सभी ऋणों को चुका करके एक व्यक्ति अपने चित्त में, ईश्वर की भक्ति को, वैराग्य को, षड् सम्पति (शम, दम, श्रद्धा, समाधान, उपरति और तितिक्षा) सबको प्राप्त करके विविदिषा संन्यास लेकर एकान्त में साधना करता है। जिद करके निकलने वाला, देखा-देखी निकलने वाला, अपरिपक्वावस्था में संन्यास लेने वाला आगे जाकर नशे में पड़ जाएगा या तमोगुण में अर्थात् आलस्य, निद्रा और प्रमाद में चला जाएगा या वृथा क्रिया-कलाप में पड़ जाएगा।

हमारे गृहस्थाश्रम को इस प्रकार से बनाया गया था कि शनैः-शनैः उसमें गृह त्याग की योग्यता आ जाती है। बंधन बढ़ाने के लिए गृहस्थ में नहीं जाते, बंधन को ढीला करने, खोलने, खिलने, खिल-खिलाने के लिए, आत्मीयता के क्षेत्र का विस्तार करने, अपने प्रेम विस्तार के लिए एक मधुर सम्बन्ध को, बंधन को स्वीकारते हैं, सर्व बंधनों से मुक्त होने के लिए। अतः ध्यान की कक्षा में प्रवेश पाने के लिए कर्मयोग की कक्षा को पार करना पड़ता है तभी हम योग के अधिकारी बनते हैं।

योग में, ध्यान में प्रवेश पाने के लिए एकान्त सेवन की पात्रता होनी चाहिए। एकान्त में ही हमें अपने-आप से परिचय पाने का, जानने का अवसर मिलता है अन्यथा भीड़ में शरीर और संसार में ही खोये रहते हैं, भूले रहते हैं, सारी जिन्दगी गुजर जाती है और हमें अपनी वास्तविकता से परिचय नहीं हो पाता। एकान्त में ही अपने अन्दर झांकने का अवसर मिलता है। आत्मविश्लेषण, आत्म निरीक्षण का अवसर मिलता है। यह भीड़ में, चुनाव की सभा में, शेयर मार्केट में नहीं हो सकती है।

जिनको एकान्त का अभ्यास नहीं है वह एकान्त को सह नहीं पाते, घबरा जाते हैं। बिम्बिसार का पुत्र अजातशत्रु अकसर बीमार पड़ जाता था। वह अपने पिता को बंदी बनाकर स्वयं राजा बन गया, पर अकसर वह बीमार रहने लगा। जीवक उसका वैद्य था। अजातशत्रु ने जीवक से पूछा, जीवन में सदा रोगी क्यों

रहता हूं? आपका रोग शारीरिक नहीं मानसिक है। बुद्ध ही आपको निरोग कर सकते हैं। वे जीवक के साथ बुद्ध से मिलने गये। बुद्ध उस समय आम्रवन में थे जिसे आम्रपाली ने उसे भेंट कर दिया था। वहां कोलाहल रहित शांत वातावरण अजातशत्रु को सहन नहीं हुआ। 1200 शिष्यों के साथ बुद्ध यहां निवास कर रहे हैं और कोई आवाज नहीं। मुझे मारने का कोई षड्यंत्र तो नहीं रचा गया है?

विषयी, वर्हिमुखी व्यक्ति को भीड़ चाहिए, मित्र चाहिए। वह झूठी महत्वाकांक्षाओं में वासनाओं में ही जीना चाहता है, इसलिए वह एकान्त से, आत्मनिरीक्षण, आत्मावलोकन से बचता रहता है। वह झूठी दिलासाओं में ही जीने का अभ्यस्त होता है, इसलिए वह एकान्त से, अकेलेपन से घबराता है, खाली समय से घबराता है, ऊब जाता है। पर साधक के लिए एकान्त, अकेलापन, आत्मनिरीक्षण, आत्मोन्नयन, आत्म साक्षात्कार के लिए अनिवार्य है, ईश्वरीय वरदान है। सांस्कृतिक स्तर ऊंचा हो तो अवकाश, एकान्त ईश्वरीय वरदान बन जाता है। अवकाश समस्त कला, दर्शन, साहित्य और धर्म का सर्जक है। पतंजलि ने कहा है कि निर्विचार अध्यात्म के प्रासाद (भवन) को गढ़ता है, किन्तु सांस्कृतिक स्तर ऊंचा न हो तो खाली मन भूत का डेरा होता है, शैतान का घर होता है। उसमें, बवंडर ही उठते रहते हैं, खुराफात ही उठते रहते हैं।

एकान्त का अर्थ सिर्फ अकेलेपन से नहीं है, एकान्त का अर्थ स्वयं में होना है।

एकान्त का अर्थ मात्र दूसरे की अनुपस्थिति नहीं है। आप अकेले में बैठे हैं, कोई दूसरा आस-पास दिखाई नहीं पड़ता, लेकिन इसे एकान्त नहीं कहा जा सकता। भीतर झांककर देखेंगे तो उन सबको मौजूद पायेंगे जिनको गांव में, घर में छोड़ आए। मित्र भी वहां होंगे, शत्रु भी वहां होंगे, प्रिय जन भी वहां होंगे, परिवार भी होगा, दुकान, बाजार, काम, धन्धा सब वहां होगा। भीतर सब मौजूद होंगे, पूरी भीड़ मौजूद होगी। इसका अर्थ आप अकेले तो हैं, लेकिन एकान्त में नहीं है।

एकान्त का अर्थ है भीतर एक ही स्वर बीज, कोई दूसरे की मौजूदगी न रह जाए भीतर। मन्दिर में मीरा एकली खड़ी...। योगी के लिए एकान्त सेवन आवश्यक है।

योग सध जाने पर, सिद्ध हो जाने पर वह भीड़ में खड़ा होकर भी एकान्त में होता है। योगी ऐसा व्यक्ति है जिसमें विषयों के प्रति रस-बुद्धि, सुख-बुद्धि नहीं होती, प्रभु के प्रति अनन्य भक्ति होती है, परा भक्ति होती है। देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण संघात उसके वश में है, वह आशा रहित है, संग्रह रहित है, अकेला एकांत में स्थित होकर प्रभु में अपना चित्त लगाए रखता है।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य, स्थिर-मासन-मात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं, चैलाजिन-कुशोत्तरम्॥6/11॥

पवित्र स्थान में अपना आसन प्रतिष्ठित करें जो स्थिर हो, अत्यन्त ऊंचा न हो, अत्यन्त नीचा भी न हो। नीचे कुशासन, उसके ऊपर मृगचर्म और उसके ऊपर वस्त्रादि हो।

स्थान पवित्र हो—योगाभ्यास के लिए प्रथम आवश्यकता भूमि की पवित्रता है। सारे विश्व में भारत भूमि, धर्म की अध्यात्म की भूमि होने से, पवित्र है। भारत की भूमि धर्म भूमि होने से साक्षात् परब्रह्म की लीला भूमि है। ऋषियों, मुनियों, संतों की तपो भूमि होने से भारत के समान पवित्र दूसरी कोई भूमि नहीं। भारत ही योग भूमि है, अन्य तो भोग भूमियां हैं।

धन्यस्ति वै भारतवर्ष भूमि रङ्खेद या किला योगबीजम्

यह भारत भूमि धन्य भूमि है जो बीज को अंकुरित करती है। इस भूमि को देखकर देवता भी **अहो अमीषां किमकारि शोभनं** (भारत में जन्मने वालों ने कैसा पुण्य किया) कहते हैं।

भारत भूमि योग भूमि होने से ही इसे माता माना। अन्य किसी देशवासियों ने अपनी भूमि को माता का पद नहीं दिया। हमने इसे माता माना, साक्षात् जगत्-जननी माना, भगवान विष्णु की पत्नी माना। इसलिए प्रातः उठते ही प्रथम भारत में भू को वंदन करते हैं। भारत भू को हम कंकड़ पत्थर नहीं मानते, इसके प्रति पूज्य बुद्धि है, इसलिए यह योग भूमि होने योग्य है।

अन्य भूमियों के लोग स्थूल रूप से, बाह्य रूप से थोड़ा आसन, प्राणायाम भले सीख लें योग की गहराई में प्रवेश पाना कठिन है। यह भारत भूमि में सहज ही शक्य है। इसलिए भारत भूमि प्रथम से ही विश्व के साधकों के लिए आकर्षण की भूमि रही है।

अतः योगाभ्यास के लिए भारत की भूमि उपयुक्त है। भारत भूमि में भी जहां प्रकृति का मनोरम दृश्य हो, पहाड़ का शिखर हो, नदी का किनारा हो, समुद्र का किनारा हो। जहां नदी का सागर में जाकर मिलन हो, कोई बड़ा जलाशय हो, झील हो, पुष्कर आदि तीर्थ हो, अर्बुदांचल में नक्की झील हो। इन सब स्थानों पर ध्यान करने पर सफलता मिलने की सम्भावना अधिक है। यहां पर निरन्तर साधक आते हैं, पूजा, उपासना सम्यक् रूप से करने से वो स्थान भी स्पन्दन से युक्त हो जाता है।

एक स्थान पर निरन्तर जो कार्य किया जाता है, उस स्थान के परमाणु उसी वातावरण से चार्ज हो जाते हैं, सुसंस्कृत हो जाते हैं। वैज्ञानिक परीक्षण बताता है

कि जहां सदैव से पशु काटे जाते रहे हैं, उस कमरे में परमाणुओं से काटो-मारो की प्रतिध्वनि होती पाई गयी और जहां देवालय में निरन्तर सीताराम का कीर्तन चल रहा था वहां 'सीताराम' की ध्वनि परमाणुओं में पाई गयी। प्रायः श्रेष्ठ साधकों का अनुभव है, कई स्थान विशेष में ध्यान करने से सफलता शीघ्र मिलती है।

इसलिए जहां काम के संस्कार, लोभ के संस्कार उदग्र होकर नाचते हों वहां ध्यान नहीं होता। जहां निरन्तर रुपये-पैसे की बात हो, जहां निरन्तर व्यभिचार हो वहां मन एकाग्र नहीं हो सकता।

अतः ध्यानाभ्यास के लिए शुद्ध देश की नितान्त आवश्यकता है। स्वामी रामतीर्थ, पूर्णसिंह के साथ जापान में एक स्थान पर ठहरे हुए थे। रात्रि को दोनों अलग-अलग कमरों में सो रहे थे। रात को पूर्णसिंह को स्वामी रामतीर्थ के कमरे से 'राम-राम' की अटूट ध्वनि सुनाई दी। वे उठकर गए तो स्वामी रामतीर्थ को सोते हुए पाया और उनके रोम-रोम से सोते रहने पर भी राम-राम की ध्वनि निकल रही थी। इन परमाणुओं की तीव्रतम अवस्था में स्वामी रामतीर्थ ने आत्मा की मस्ती में स्पर्श कर दिया, उसमें भी वही मस्ती आ जाती थी।

अतः स्थान पवित्र होना चाहिए। योगाभ्यास के लिए प्रथम आवश्यकता है भूमि की पवित्रता। स्थान पवित्र हो, रमणीक हो तो मन स्वतः एकाग्र हो जाता है। नदी के किनारे, समुद्र किनारे, पर्वतों पर, अरण्य में, फूलों के बगीचे में अस्वस्थ मन भी स्वस्थ हो जाता है, एकाग्र हो जाता है और अपवित्र स्थानों, कत्ल खाने या जहां पापाचार, दुराचार, व्यभिचार होता हो वहां स्वस्थ मन भी अस्वस्थ हो जाता है।

भागवत के एकादश स्कन्ध के 13वें अध्याय के चौथे और पांचवें श्लोक में आया है—शास्त्र, जल, प्रजाजन, देश, समय, कर्म, जन्म, ध्यान, मंत्र और संस्कार—ये दस वस्तुएं यदि सात्विक हो तो सत्वगुण की, राजसिक हो तो रजो गुण की और तामसिक हो तो तमो गुण की वृद्धि करती है।

आगमोऽप प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च।
ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारं दशैते गुणहेतवः॥11/13/4

तत्रत् सात्त्विकमेवैषां यद् यद् वृद्धाः प्रचक्षते।
निन्दन्ति तामसं तत्तद् राजसं तदुपेक्षितम्॥11/13/5

योगाभ्यासी के लिए ये दस वस्तुएं सतो गुणी ही होनी चाहिए।

भारत योग प्रधान, धर्म प्रधान, अध्यात्म प्रधान देश होने से नदी के किनारे, समुद्र के किनारे, अरण्य में, पहाड़ी पर आपको मन्दिर मिलेंगे, तीर्थ मिलेंगे,

संन्यासियों के आश्रम मिलेंगे यानी साधना स्थल मिलेंगे, योगाभ्यास के लिए उपयुक्त स्थल मिलेंगे और पश्चिमी देश भोग प्रधान देश होने से वहां होटल मिलेंगे, शराब की दुकानें मिलेंगी, व्यभिचार भवन मिलेंगे।

भारत में दिन भर परिश्रम करके मजदूर या किसान थक जाता है तो रात को ईश्वर के भजन-कीर्तन में अपने आपको खो देता है, उसमें विश्राम, शांति पाता है। इसलिए हर गांव में हरि सभा होती थी। वहीं पश्चिम में परिश्रम से थककर अपने-आपको शराब में धुत्त होकर अपनी पत्नी से झगड़ा करता है, उस पर अनाचार करता है।

लकड़ी का खड़ाऊ, कुश का आसन, मृगचर्म, कम्बल ये सब चीजें विद्युत के लिए नॉनकण्डक्टिव हैं अतः ध्यान में सहयोगी है। जब ध्यान करते हैं तो आपके शरीर में एक बहुत अनूठे ढंग से एक नये तरह की अन्तर्विद्युत पैदा होती है, एक इनर इलेक्ट्रिसिटी उत्पन्न होती है।

ध्यान से शरीर में जो विद्युत ऊर्जा उत्पन्न होती है उसे पृथ्वी खींच लेती है। पृथ्वी और हमारे मध्य में कुशासन रहेगा तब पृथ्वी वह विद्युत खींच नहीं सकेगी। कुशासन, मृगचर्म, सिंह चर्म, खड़ाऊ, लकड़ी का तख्त नॉनकण्डक्टर है, बिजली उसके पार नहीं जा सकती, वह बिजली को वापस लौटा देता है। इससे ध्यान के समय उत्पन्न विद्युत ऊर्जा सुरक्षित रहती है।

मृगचर्म एवं व्याघ्र चर्म पर केवल ध्यान, भजन के लिए ही बैठने का विधान है। यदि कोई इस पर बैठकर भोजन करे या शयन करे तो यह शास्त्र निषिद्ध है। मृग चर्म, व्याघ्रचर्म में केवल विधिगत पवित्रता है, वस्तुगत नहीं। इसलिए जिस अंश में उसका विधान है उसी अंश में वह पवित्र होता है।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा, यत-चित्तेन्द्रिय-क्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्,-योग-मात्म-विशुद्धये॥6/12॥

उचित स्थान, उचित आसन पर बैठकर, चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में रखते हुए, मन को एकाग्र करके अन्तः करण की शुद्धि के लिए योग साधना करें।

यह योग साधन किसलिए किया जाता है? 'आत्मशुद्धये'—अन्तःकरण की शुद्धि के लिए किया जाता है। ध्यान योग के अभ्यास का लक्ष्य सिद्धि या चमत्कार, प्रदर्शन की शक्ति अर्जित करना नहीं है, न ही धन, यश, प्रतिष्ठा प्राप्त करना है जैसा कि मेस्मरिज्म Mesmerism करने वाले जादूगर के जीवन में पाते हैं।

चित्त की वृत्तियों को दृढ़ संकल्प से बाहर भटकने से रोकना ही योग साधना का उद्देश्य है। जब चित्त को बाहर कुछ भोग सामग्री नहीं मिलती, तो

चित्त अन्तर्मुखी होकर अपने मूल को खोजने लगता है। मानव के व्यक्तित्व का केन्द्र आत्मा चित्त को अपनी ओर खींचने लगता है, तभी अकस्मात् एवं अनायास समाधि जैसी स्थिति आ जाती है। कई बार बाहर की वृत्तियां बंद हो जाने पर भी चित्त आत्मा से तार नहीं जोड़ पाता। उस काल में चित्त कुछ क्षणों तक बाहर के प्रति बेसुध और अन्तर में शून्य जैसी स्थिति में हो जाता है। अचानक किसी के बुलाने या छूने से हमारी यह बाहर की बेसुधी और अन्दर की शून्यता भंग होती है।

यदि मनुष्य प्रतिदिन परमेश्वर के ध्यान का अभ्यास करे तो चित्त का परमेश्वर के ध्यान में लय होते ही चित्त की बहिर्मुखी वृत्तियां अपने आप रुक जाती हैं। इसलिए परम तत्त्व का चिन्तन चित्त की समाधि में बहुत उपयोगी है। इसी कारण एक योगी का मन पर नियंत्रण मेस्मेरिज्म Mesmerism करने वाले जादूगर की तुलना में बहुत अच्छा होता है। मन को एकाग्र करने से मन की शक्तियों का विकास होता है, जैसे व्यायाम करने से शारीरिक शक्ति का विकास होता है। प्राणायाम करने से प्राणशक्ति का विकास होता है, उसी प्रकार मन की एकाग्रता से मनःशक्ति का विकास होता है। जैसे तन का बलिष्ठ व्यक्ति बल का सदुपयोग करके अबला, अनाथ, असहायों अथवा समाज एवं राष्ट्र की रक्षा कर सकता है, बल का प्रदर्शन मात्र करके समाज पर प्रभाव और अपने अहंकार को बढ़ा सकता है और शरीर बल का दुरुपयोग करके दुर्बलों, असहायों, निराश्रितों को सता सकता है। इसी प्रकार प्राणायाम द्वारा प्राण के तार को प्राणेश्वर, परमेश्वर से जोड़कर साधक जीवन को सफल सिद्ध कर सकता है। प्राण को अधिक देर तक रोक कर अपने प्राण स्तंभन का प्रदर्शन कर सकता है। छाती से लोहे की छड़ को मोड़ना, छाती पर हाथी या मोटर चढ़ाना प्राणशक्ति के प्रदर्शन हैं। कबड्डी का खिलाड़ी भी प्राण को अधिक देर तक रोक सकता है, किन्तु वह योगी नहीं बन जाता है। प्राणशक्ति के अभ्यासी प्राण शक्ति के विचित्र प्रयोग और दुरुपयोग भी करते रहते हैं। व्रजरोली क्रिया द्वारा मूत्रेन्द्रिय से घी को चढ़ा लिया जाता है और ऐसा विचित्र साधक जनता के सामने मूत्र विसर्जन करके यह तमाशा दिखाता है कि उसके पेशाब में दीये जलते हैं। इस तरह के खेल दिखाकर जनता को ठगना प्राण साधना का दुरुपयोग है। मन को एकाग्र करने और दृष्टि को एक बिन्दु पर केन्द्रित करने से प्रातःकाल सूर्योदय के समय लेटकर सूर्य की रश्मियों को नेत्रों द्वारा पान करने से तथा 'नाभि' के पास सूर्यचक्र पर हाथों की उँगलियां रखकर लम्बा श्वास-प्रश्वास लेने से धीरे-धीरे नेत्रों की शक्ति, हाथ की उँगलियों के पोरों की शक्ति तथा मन की संकल्प शक्ति का विकास होने लगता है। इस विकसित संकल्प शक्ति का सदुपयोग समाज हित, राष्ट्र हित या परमेश्वर की प्राप्ति के

लिए लगा देने से व्यक्ति साधना में सिद्धि को प्राप्त करता है। जैसे बालकों में ध्रुव और प्रौढ़ों में रामकृष्ण परमहंस, श्रीअरविन्द आदि।

विकसित मन-शक्ति को खेल तमाशे में प्रदर्शन करना मेस्मरिज्म या इन्द्रजाल का खेल है। फ्रांस के मेस्मर ने मन की एकाग्रता की साधना कर ऐसे खेल दिखाने प्रारम्भ किए। उन्हीं के नाम से मेस्मरिज्म कहा जाने लगा। विकसित मन-शक्ति का प्रदर्शन पैसा कमाने और अहंकार बढ़ाने का उपाय है। विकसित मन-शक्ति का दुरुपयोग कर इसका मारन, उच्चाटन और मोहन आदि वामाचारी तंत्र का घटिया प्रयोग है, खेल है। सच्चा योगी निष्काम, अहंकार मुक्त होकर अपने एकाग्र एवं निर्मल मन द्वारा परब्रह्म परमेश्वर का ध्यान अन्तः शुद्धि के लिए करता है।

समं काय-शिरो-ग्रीवं, धारयन्-नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं, दिशश्-चा-नवलोकयन्॥6/13॥

काय, सिर, ग्रीवा (गर्दन) को सम (सीधा) और अचल रखते हुए स्थिर होकर अपने नासिकाग्र को देखते हुए और दिशाओं को न देखते हुए (योग युक्त) बैठें। इस श्लोक में आसन में बैठने की विधि बताई गई। साथ में तन को कैसे रखना यह बताया गया है।

प्रशान्तात्मा विगत-भीर्,-ब्रह्मचारि-व्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो, युक्त आसीत मत्परः॥6/14॥

साधक ब्रह्मचर्य के व्रत में स्थित रहता हुआ, भय रहित तथा अच्छी तरह से शांत अन्तकरणः वाला और सावधान मन को वश में करके मेरे में लगे हुए चित्त वाला और मेरे परायण हुआ स्थिर होवे।

योग के लिए पहला साधन बता रहे हैं। ब्रह्मचारी व्रत में स्थित रहता हुआ योगाभ्यास करे। ब्रह्मचर्य पालन के तीन चरण हैं—प्रथम चरण है श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य की सन्निधि में रहते हुए गुरु सेवा। गुरु से उपदेश श्रवण, वेद यानी ब्रह्म प्रतिपादक शास्त्रों का स्वध्याय, तत्त्व चर्चा, सिद्धान्त का स्पष्ट बोध यह द्वितीय चरण है। तृतीय चरण है तपश्चर्या। ब्रह्मचर्य का अर्थ है तपश्चर्या। गीता में त्रिविध तप का उल्लेख है—शारीरिक तप, वाणी का तप और मानसिक तप (गीता 17/14 से 16)।

गीता में शारीरिक तप के अन्तर्गत ब्रह्मचर्य का उल्लेख है। पातंजल योग सूत्र में पांच यमों के अन्तर्गत ब्रह्मचर्य को बताया गया है (पा.यो.सू. 2-30)।

ब्रह्मचर्य का प्रसिद्ध एवं प्रचलित अर्थ इस प्रकार है—

कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा।
सर्वत्र मैथुन त्यागो ब्रह्मचर्य प्रचक्षते॥

अर्थात् मन, वाणी और शरीर में होने वाले सब प्रकार के मैथुनों का, सब अवस्थाओं में, सदा त्याग करके सब प्रकार से वीर्य की रक्षा करना ब्रह्मचर्य है।

मैथुन के अष्ट प्रकार बताए गए हैं— (i) काम्य देह का दर्शन (ii) स्पर्शन (iii) स्मरण (iv) क्रीड़न (v) चर्या (vi) एकान्तवास (vii) गुह्य भाषण (viii) रति क्रिया की निष्पत्ति।

उपस्थ इन्द्रिय अर्थात् जननेन्द्रिय के संयम को ब्रह्मचर्य कहा जाता है। उपस्थ इन्द्रिय कर्मेन्द्रिय है, इसका अधिभूत 'आनन्द' है तथा इसका अधिदेव प्रजापति है।

उपस्थ इन्द्रिय की उत्पत्ति 'रस तन्मात्रा' के रजो अंश से होती है। जिह्वा, ज्ञानेन्द्रिय है, यह 'रस' तन्मात्रा के सत्व अंश से उत्पन्न होती है। अतः रसना (जिह्वा) का तथा उपस्थ इन्द्रिय का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसी को लेकर शास्त्र की उक्ति है—'जिते रसे जितं सर्वम्'। रसना को जीत लेने पर सभी इन्द्रियां जीत ली जाती हैं। उपस्थ इन्द्रिय के संयम को साधने के लिए अन्य इन्द्रियों का संयम भी आवश्यक है।

उपस्थेन्द्रिय तथा वीर्य क्षुब्ध न हो एतदर्थ भोजन सात्त्विक होना चाहिए। गीता 17/8 में सात्त्विक आहार का उल्लेख है। अन्य इन्द्रियों के आहार शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध भी सात्त्विक होना चाहिए। इसके अलावा धर्म पूर्वक उपार्जित धन द्वारा ही खाद्य सामग्री लायी जानी चाहिए, अन्यथा भोजन देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण संघात में क्षोभ एवं विकृति उत्पन्न करेगा, फलस्वरूप वीर्य रक्षण सम्भव नहीं होगा। भोजन पर भोजन पकाने वाले का भी असर होता है। तन-मन से अपवित्र व्यक्ति द्वारा पकाया गया भोजन भी भोजन करने वाले को दूषित करता है।

इसके साथ ही अन्य इन्द्रियों के आहार भी धर्ममय एवं मर्यादित होना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में साधक को सत-चिन्तन, सद्भावना एवं सत कर्म को अपनाना चाहिए। गीता में एतदर्थ युक्त आहार, युक्त विहार, युक्त चेष्टा, युक्त निद्रा वाले, युक्त जागने वाले को दुःखहर योग सिद्ध होता है—ऐसा उल्लेख किया है।

हमारे चार आश्रमों में प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्य आश्रम है, जो तीनों आश्रमों की नींव है। ब्रह्मचर्य आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम एवं संन्यास आश्रम में अष्ट विध मैथुन का निषेध है। गृहस्थ आश्रम में रति कर्म विलास हेतु नहीं अपितु केवल सन्तति प्राप्ति के लिए है और वह भी शास्त्र विधि के अनुसार करणीय है। भगवान् ने गीता में कहा है कि धर्म से अविरुद्ध काम मेरा ही रूप है। **धर्मा-विरुद्धो भूतेषु, कामोऽस्मि भरतर्षभ** (7/11) अतः विवाह के पश्चात् पत्नी के

साथ संयमपूर्ण नियमित जीवन बिताना भी ब्रह्मचर्य ही है और उससे भी ध्यान में सहायता मिलती है। अतः ब्रह्मचर्य का एक मुख्य तात्पर्य वीर्य रक्षण से है। वीर्य का सूक्ष्म अंश 'ओजस' में परिवर्तित होता है। जिसमें ओज़ की जितनी मात्रा अधिक होती है, वह उतना ही तेजस्वी होता है, उसकी धृति उतनी ही पुष्ट होती है और वह मनको वश में करने में उतना ही समर्थ होता है।

ब्रह्मचर्य आश्रम में ब्रह्मचारी के लिए बहुत से नियम होते हैं, जिनके पालन से वीर्य धारण में बड़ी सहायता मिलती है। ब्रह्मचर्य के पालन से वास्तव में वीर्य भलीभांति धारण हो जाए तो उस वीर्य से शरीर के अन्दर एक विलक्षण विद्युत-शक्ति उत्पन्न होती है और उसका तेज इतना शक्तिशाली होता है कि उस तेज के कारण अपने-आप ही प्राण और मन की गति स्थिर हो जाती है और चित्त का एकतान प्रवाह ध्येय वस्तु की ओर स्वभाविक होने लगता है। इस एक तानता का नाम ही ध्यान है।

युञ्जन्-नेवं सदात्मानं, योगी नियत-मानसः।
शान्तिं निर्वाण-परमां, मत्-संस्था-मधिगच्छति॥6/15॥

जिसका मन नियत (अर्थात् जीता हुआ) है ऐसा योगी इस प्रकार से निरंतर आत्मा (अर्थात् मन) को समाहित करता हुआ (अर्थात् परमात्मा में लगता हुआ) मुझ में स्थित रहने वाली निर्वाण परमा (अर्थात् मोक्ष रूप) शांति को प्राप्त होता है।

मन में अपार शक्ति है। ध्यान के अभ्यास द्वारा जब हम मन को एकाग्र कर लेते हैं, अपने मूल स्त्रोत परब्रह्म परमेश्वर से, आत्मा से जुड़ जाते हैं तब परम निर्वाण, परम शान्ति को उपलब्ध हो जाता है।

बौद्धों का निर्वाण निषेधपरक है क्योंकि वे आत्मा को मानते नहीं है, ईश्वर के विषय में मौन हैं। मौन का अर्थ उनके शिष्यों ने निषेध परक ही लिया है। बौद्धों का निर्वाण दीपक का बुझ जाना है। बुझने के बाद कुछ नहीं, पर गीता निर्वाण विधिपरक है, सत्-चित्-आनन्द स्वरूप है, पूर्ण स्वरूप है। गीता के अनुसार ब्रह्म या ईश्वर या आत्मा के अलावा किसी और का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। उसने ही अपने आपको जीव जगत् के रूप में प्रकट किया है।

वेदान्त नगद धर्म है। गीता नगद धर्म है। मरने के बाद परलोक या स्वर्ग किसने देखा है? जीते जी मुक्ति यह वेदान्तिक, गीतोक्त अवधारणा है। सेमेटिक परम्परा में मृत्यु के उपरान्त कयामत तक कब्र में पड़ा रहना पड़ता है। मुक्ति की तो उनके पास अवधारणा ही नहीं है, केवल स्वर्ग-नर्क की अवधारणा है। इसके लिए भी ईसा की, मुहम्मद की साक्षी की आवश्यकता है। इसके अभाव में आप कितने

ही धर्मात्मा हो, सदाचारी, पुण्यात्मा, योगी हो, स्वर्ग के अधिकारी नहीं हो सकते। आप अनन्त नरक के ही भागी होंगे।

नात्यश्नतस्-तु योगोऽस्ति, न चैकान्त-मनश्नतः।
न चाति स्वप्न-शीलस्य, जाग्रतो नैव चार्जुन॥6/16॥

हे अर्जुन! (यह) योग न तो अधिक खाने वाले का और न बिलकुल न खाने वाले का तथा न बहुत अधिक सोने वाले का और न (अधिक) जागने वाले का ही सिद्ध होता है।

युक्ताहार-विहारस्य, युक्त-चेष्टस्य कर्मसु।
युक्त-स्वप्नाव-बोधस्य, योगो भवति दुःखहा॥6/17॥

यह दुःखों का नाश करने वाला योग तो यथायोग्य आहार-विहार करने वाले का, कर्मों में यथायोग्य चेष्टा करने वाले का और यथा योग्य सोने तथा जागने वाले का ही सिद्ध होता है।

ये दोनों श्लोक बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं, विशेषकर साधकों के लिए, योगाभ्यासियों के लिए, जीवन में किसी महान् लक्ष्य को लेकर चलने वालों के लिए।

जो व्यक्ति उचित मात्रा में उचित समय पर उचित विधि से खान-पान, विश्राम, जागरण आदि समस्त कर्तव्य कर्म करता है उसके लिए योग बड़ा सरल है और दुःखों को दूर करने वाला बन जाता है। इसी से प्रेरणा प्राप्त कर भगवान् बुद्ध ने मध्यम मार्ग का प्रतिपादन किया। न वीणा के तार को इतना कसो कि टूट ही जाये और न इतना ढीला छोड़ो कि उससे ठीक स्वर न निकले। इतन भोग-विलास न करो कि जीवन लम्पट एवं चरित्रहीन हो जाये और न तपस्या में उतना कसो कि इन्द्रियां ही सूख जाये और जीवन का तार टूट जाये। कपिलवस्तु का राजवैभव एक अति सीमा थी और चिथड़े पहनकर, निराहार रहकर शरीर को कंकाल बना देना दूसरी अति सीमा है। अति का आचार ही अत्याचार होता है। संयमहीन व्यक्ति समाज में अत्याचार करता है, समाज के लिए अभिशाप बन जाता है तथा अति कठोर तपस्या में शरीर सुखानेवाला अपने प्रति अत्याचार करता है। सिद्धार्थ ने जाना कि जीवन की नौका दोनों अतियों के चट्टानी तटों से बचकर बीचधार में मध्यम मार्ग में चलनी चाहिये।

स्वयं भगवान् बुद्ध ने कठोर तप के द्वारा शरीर को सुखा दिया था। तप काल में उन्होंने आहार की मात्रा घटाते-घटाते चावल का एक कण मात्र लेने का व्रत लिया, फिर केवल पत्ते खाकर, फिर केवल जल पर, फिर केवल वायु पर निर्वाह करने लगे। इससे उनका शरीर सूखकर कंकाल मात्र रह गया था। एक दिन

शरदपूर्णिमा की रात्रि को मगध की राजकुमारी सुजाता एक खीर का पात्र लेकर वन देवता के पूजन के लिए आयी। सिद्धार्थ के कंकाल शरीर को ही साक्षात् वन देवता समझकर उसने खीर का पात्र उनके सम्मुख समर्पित किया। सिद्धार्थ ने अकस्मात् खीर को खा लिया जिससे उनकी सूखी हुई अन्तड़ियों में खीर जैसा गरिष्ठ पदार्थ जाने से रक्तातीसार अर्थात् खूनी पेचिस हो गयी। आचार्य रुद्रक के पांच विद्यार्थी भी इनके शिष्य बनकर तपस्या कर रहे थे। उनके पांचों शिष्यों ने यह सोचकर कि गुरु ने व्रत भंग कर दिया है, उनका साथ छोड़ दिया। सिद्धार्थ अपने मलीन और दुर्बल शरीर को धोने के लिए घसीटते हुए निरंजन नदी के जल के तट तक लाये, किन्तु अति दुर्बलता के कारण अचेतावस्था में उनका शरीर नदी की धार में बहने लगा। कुछ आगे जाकर नदी की धारा के बीच पर एक शिला पर अटक गया। अर्ध-रात्रि को उन्हें स्वप्न हुआ कि इन्द्र वीणा बजा रहे हैं। तारें ढीली होने के कारण संगीत भद्दा निकलता था, तार कसने पर संगीत मीठा होने लगा और पूरी कस जाने पर संगीत उत्तम और मधुर हो गया। तनिक और अधिक कसने पर संगीत तीखा, और कसने पर और तीखा, कुछ और कसने पर तार टूट गये और सिद्धार्थ का सपना भी टूट गया। सिद्धार्थ उठकर नृत्य करने लगे, 'मुझे जीवन का रहस्य स्वर्णिम मध्यम मार्ग मिल गया।' सिद्धार्थ का मध्यम मार्ग गीता के मध्यम मार्ग की पुनः प्रतिष्ठा है। अरस्तू ने भी कहा कि सद्‌गुण दो अतियों के बीच स्वर्णिम सन्धि है। इस प्रकार गीता जीवन का मध्यम मार्ग अपनाने एवं अतिशय से बचने का कहती है।

परन्तु पतंजलि द्वारा उपादिष्ट योग क्रिया से यह अतिशयता से बचाव बिलकुल भिन्न है। पातंजल योग ने एक ऐसी विधि का वर्णन किया है जिसके द्वारा योगी शनैः-शनैः अपने जीवन की ऐसी अवस्था में अभ्यस्त हो जाता है कि अन्ततोगत्वा खाना-पीना पूर्ण रूप से छोड़ सकता है एवं शरीर और मन को निश्चल बना सकता है।

भारतीय दर्शन का इतिहास भाग-2 दास गुप्ता पृ. 445

पतंजलि योग वस्तुतः उच्च अधिकारियों के लिए है जिनका मन भोगों (लौकिक एवं पारलौकिक) से उपराम हो चुका है। योग का अन्तिम लक्ष्य चित्तवृत्ति निरोध है और यह निरोध शरीर की सम्पूर्ण गतियों को रोके बिना सम्भव नहीं है। इसके लिए ऐसे साधनों का अभ्यास करना पड़ता है जिसमें शरीर के आहार-विहार की आवश्यकता उसमें बाधा उत्पन्न करती है। अतएव उसमें ऐसे अभ्यास का निर्देश है जिनसे शरीर आहार-विहार की आवश्यकताओं से मुक्त हो जाये। तो यह उच्च साधकों के लिए है। पर गीता का मार्ग आम लोगों के लिए है जो संसार के कर्तव्य करते हुए प्रभु को प्राप्त करें।

अतः गीता मध्यम मार्ग की समर्थक है, न भोगों को खुली छूट और न ही उनका कठोरतापूर्वक दमन, वरन् साधक यथायोग आहार-विहार प्राप्त करे।

शास्त्र का वचन है—'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः।'

अर्थात् आहार की शुद्धि से ही मन की शुद्धि होती है। आहार में निम्नलिखित तथ्य विचारणीय हैं—

भोजन उचित अनुपात में ही लिया जाना चाहिए। उसकी एक कसौटी यह है कि उसका विनियोग लय या विक्षेप में नहीं होना चाहिए। अति अल्प भोजन लेंगे तो शरीर लय की अवस्था में चला जाएगा और हमारी चेतना पेट में केन्द्रित हो जाएगी। यदि भोजन ठूस-ठूस कर करेंगे तो भी चेतना पेट पर केन्द्रित हो जाएगी और आलस, प्रमाद, निद्रा के शिकार होंगे।

यह सच है कि खाने से हमें शक्ति मिलती है, पर यह भी सच है कि खाना पचाने के लिए भी बहुत सारी शक्ति व्यय होती है। खाना पचाने की प्रक्रिया और उसमें व्यय होने वाली शक्ति को चयापचय (Metabolism) कहा जाता है। जब हम खाना खाते हैं चयापचय की गति एकदम तीव्र हो जाती है और उसके लिए हमें ज्यादा रक्त की जरूरत होती है। दूसरे शब्दों में, शरीर में उपलब्ध रक्त और शक्ति का अधिकांश भाग खाना पचाने में व्यय होने लगता है। फलस्वरूप दूसरे अंगों को अपेक्षित मात्रा में रक्त उस समय नहीं मिल पाता। फलतः वे शिथिल हो जाते हैं। यही कारण है कि खाना खाने के बाद हम आलस्य का अनुभव करते हैं। खाने की मात्रा अगर बहुत ज्यादा या गरिष्ठ खाना है तो हमें नींद भी आने लगती है।

अतः साधक का भोजन ऐसा होना चाहिए कि न तो उसे लगे वह भूखा है और न ही लगे कि पेट भरा हुआ है।

इसका सहज उपाय है हित, मित, ऋत, भुक। Father of सर्जरी जिसको कहा जाता है वे चरक एक दिन प्रातःकाल सूर्योदय के समय चहल कदमी कर रहे थे, उसी समय एक टिटहरी ने बोला करूहुक, करूहुक, करूहक। वे सम्वाद करते थे वृक्षों से, पत्तियों से, हवा से, धूप से। एक महान् विराट् चेतना पत्ते के हिलने के द्वारा, पक्षियों के कलरव के द्वारा, रश्मियों के द्वारा अपने-आपको अभिव्यक्त कर रही है। ज्योंही उस पक्षी ने बोला करूहुक, करूहुक इसका अर्थ है 'कः अरूक' कौन रूग्ण नहीं है, कौन बीमार नहीं है? तुरन्त चरक महर्षि के अन्दर से एक intuotion हुआ, स्फुरणा हुई। हित, मित, ऋत, भुक, हित, मित, ऋत, भुक। जो हित भोजन करता है, जो मित भोजन करता है, जो ऋत भोजन करता है वह बीमार नहीं है। सारा चिकित्सा दर्शन इन शब्दों के अन्दर आ गया। हित भोजन, मित भोजन, ऋत भोजन।

हित भोजन-भोजन हितकर होना चाहिए जो आसानी से पच जाए। जो अहितकर भोजन है वह नहीं करना चाहिए। पेट खराब है रबड़ी खा रहे हैं, सर्दी है कुल्फी खा रहे हैं, यह नहीं होना चाहिए। भोजन रजोगुणी, तमोगुणी न होकर सतोगुणी होना चाहिए।

आयुः सत्त्व-बलारोग्य,-सुख-प्रीति-विवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या, आहाराः सात्त्विक-प्रियाः॥17/8॥

आयु, बुद्धि, बल आरोग्य सुख और प्रसन्नता को बढ़ाने वाले रसयुक्त, स्निग्ध (अर्थात् चिकने), स्थिर अर्थात् शरीर में बहुत समय तक सार रूप में बने रहने वाले तथा हृदय को प्रिय ऐसे खाद्य पदार्थ सात्विक व्यक्ति को प्रिय होते हैं।

एक भोजन स्वरूप से दोष पूर्ण होता है जैसे मांस, मछली, अण्डे, अति अम्ल अति कटु (तीखा) आदि।

एक भोजन के अन्दर संयोग दोष भी होता है जैसे दूध को तांबे के बरतन में रख दिया जाए, एक प्रकार से दोष उत्पन्न हो जाता है, वह मद्य के समान दुषित होता है। भोजन में मलीन वस्तु पड़ जाए, बाल पड़ जाए दूषित व्यक्ति का स्पर्श हो, किसी की कुदृष्टि पड़ जाए, भूखा व्यक्ति देख ले यह भोजन के अन्दर संयोग दोष है।

तीसरा क्रिया दोष है। भोजन कच्चा रह जाए, जल जाए, ये क्रिया दोष है।

तो इन तीन दोषों से बचते हुए सतोगुणी भोजन होना चाहिए। हितकर भोजन होना चाहिए।

हितकर, सतोगुणी भोजन भी परिमित होना चाहिए। आधा पेट भोजन से भरे, चौथाई पेट पानी से भरे और चौथाई पेट वायु के लिए खाली छोड़ दे। भगवान् बुद्ध कहते हैं—जब चार पांच कौर भोजन करने की भूख बाकी है, तब भोजन करना बंद कर दे।

तीसरा नियम ऋत भोजन अर्थात् अपनी ईमानादारी की कमाई का खाओ। जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन। पाप से अर्जित भोजन में भाव दोष आ जाता है। पाप का अन्न खाने के कारण न चाहते हुए भीष्म पितामह, आचार्य द्रोण, कृपाचार्य को अधर्म का पक्ष लेना पड़ा। पाप का भोजन भाव दोष को उत्पन्न करता है जिसे भीष्म पितामह, आचार्य द्रोण व कृपाचार्य सबने स्वीकारा। गुरु नानक देव की कथा तो हम सब जानते हैं। वे एक गांव में गए तो वहां के जमींदार ने उनको अपने यहां आमंत्रित किया और एक किसान ने भी आमंत्रित किया। वे किसान के घर गए। जमींदार दुःखी हुआ। बोला—मेरे यहां अच्छी रोटी थी। आपने क्यों नहीं ग्रहण की? तो बोले ले आ अपनी रोटी। उन्होंने उसकी भी रोटी

ली और किसान की भी रोटी ली, दोनों को निचोड़ा। जमींदार की रोटी से खून गिरा और किसान की रोटी से दूध गिरा। अतः ईमानदारी की कमाई खाओ।

फिर स्मित भुक—खाते समय पत्नी पर नाराज हो रहे हो, नौकर से झगड़ रहे हो यह क्या खाना बनाया? मुस्कराते हुए, प्रसन्न चित्त से खाना चाहिए।

हित भुक, मित भुक, ऋत भुक और स्मित भुक। इसके साथ स्वामी अखण्डानन्दजी एक चीज और जोड़ते थे—अनायास भोजन। यानी अल्प समय में बन जाए। अब सुबह से लेकर शाम तक भोजन ही बनाया जा रहा है?

इस प्रकार भोजन शुद्ध, सात्विक, परिमित, ऋत, स्मित, अनायास भोजन होना चाहिए। क्योंकि आहार शुद्धि सत्व शुद्धिः।

आहार शुद्धौ सत्व शुद्धिः सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।
स्मृतिलम्भे सर्व ग्रन्थीनां विप्रमोक्ष इति॥

अर्थात् आहार की शुद्धि से मन की शुद्धि होती है। मन या अन्तःकरण की शुद्धि से स्मृति की प्राप्ति होती है। स्मृति लाभ से सब ग्रंथियों का मोक्ष होगा। अब चूंकि मन अन्नमय है अतः इसके लिए इन बातों पर ध्यान देना आवश्यक है।

(i) पवित्र धन (पवित्र कमाई का पैसा)।

(ii) परिश्रम से उपार्जित धन।

(iii) बिना छल-छद्म से प्राप्त धन।

(iv) पवित्र अन्न।

(v) अहिंसक भोज्य पदार्थ।

(vi) पवित्र स्थान पर बना हुआ।

(vii) पवित्र व्यक्ति द्वारा पकाया हुआ।

(viii) पवित्र भाव से पकाया हुआ एवं परोसा हुआ।

(ix) पवित्र स्थान पर ग्रहण।

(x) पवित्र भाव से भगवान् को समर्पित।

(xi) अतिथि-अभ्यागत को भेंट कर।

(xii) शरीर निर्वाह भर के लिए जिह्वा के स्वाद या इन्द्रियों के लोभ से मुक्त, भगवान् के प्रसाद को ग्रहण करना।

गुरु नानकदेव ने दीवान के भोगों के पूरी-पकवान को त्यागकर भाई लालो (एक निर्धन बढ़ई) की सूखी रोटी को आनन्दपूर्वक स्वीकार किया। उन्होंने दर्शाया

कि दीवान के भोजन में निर्धनों का रक्त है और गरीब बढ़ई की सूखी रोटी में परिश्रम का सात्त्विक दुग्ध है।

भगवान् कृष्ण ने दुर्योधन का मेवा त्यागकर विदुर के घर का साग-पात का भोजन सहर्ष स्वीकार किया। उन्होंने दुर्योधन से कहा कि मनुष्य भोजन तब करता है जब देने वाले के मन में प्रेम हो या पाने वाले के मन में भूख हो, गरज हो। न तेरे मन में प्रेम है और न मेरे मन में गरज है।

अहंकारी एवं स्वार्थी (भोजन कराके अपना उल्लू सीधा करने की चेष्टा वाले) व्यक्ति के यहां भोजन करने से तो मन अशुद्ध होता है।

शास्त्रों में मठ-मन्दिरों में चढ़ाए हुए चढ़त या दान के पैसों को भी बहुत भारी एवं दूषित माना गया है। सभी भक्तगण या आगन्तुक अपने किसी कष्ट क्लेश के निवारण के लिए मन में कुछ मनौती मांग कर देवता के सामने पैसा चढ़ाते हैं। अत: उस पैसे में उनके कष्ट-क्लेश, दु:ख छिपे हुए और भगवान् से उनकी सकाम याचना लिपटी हुई है। उसे (उस धन को) पचाना बहुत कठिन काम है। केवल तपस्वी ब्राह्मण ही अपनी तपस्या की अग्नि से चढ़त के पैसे के दूषित संस्कारों को भस्मकर उन्हें प्रयोग करने का अधिकारी बनता है। तपस्याहीन, साधनाहीन, केवल खान-पान, नशा सेवन, निद्रा, आलस्य में जीवन बिताने वाले ढोंगी साधुओं एवं मठाधीशों को यह दूषित अन्न और धन और भी अधिक नीचे गिरा देता है।

एक बार भगवान् राम के दरबार में एक कुत्ते ने न्याय की पुकार की। उसने कहा कि एक ब्राह्मण ने बिना कुत्ते के भौंकने या काटने की चेष्टा करने के बावजूद, अकारण ही उसे डण्डा मारकर घायल कर दिया। भगवान् ने ब्राह्मण को बुलाकर सारी जांच-पड़ताल की। कुत्ते का आरोप ठीक था, जिसे ब्राह्मण को भी मानना पड़ा। भगवान् ने कुत्ते से पूछा—तुम्हीं बताओ कि इसे क्या दण्ड दिया जाए। इस पर कुत्ते ने उत्तर दिया, 'महाराज! इसे किसी मठ का मठाधीश बना दिया जाए।' सबके विस्मय करने पर कुत्ते ने कहा—मैं भी पिछले जन्म में मठ का मठाधीश था। लोगों के दान का दूषित अन्न खाकर मुझे कुत्ते की योनि मिली। अत: इसे भी इस क्रम में जब कुकुर योनि मिलेगी तब इसे पता चलेगा कि अकारण डण्डा मारने से कैसी पीड़ा होती है।

पाप की कमाई से परिवार को पालने पर बच्चों में भी पाप के भाव आ जाते हैं। उनके बड़े होने पर स्वयं अपने माता-पिता को ठगने में अग्रणी होते हैं। जो धन अनर्थ से आता है वह अनर्थ में या व्यर्थ में ही जाता है।

आहार का अर्थ रोटी से, भोजन से है, विहार का अर्थ बेटी से है। शुद्ध और मर्यादित आहार-विहार (Food & Sex) भारतीय जीवन-पद्धति का मूल आधार

है। पश्चिम में इन दोनों पर ध्यान नहीं दिया गया है। न यथोचित आहार के ऊपर ध्यान दिया गया है और न विहार पर। इसलिए पात्यव्रत का कोई पर्याय शब्द अंग्रेजी भाषा में उपलब्ध नहीं है, क्योंकि उनके यहां न शुद्ध आहार का विचार है और न शुद्ध विहार की कल्पना है।

शंकराचार्यजी आहार का व्यापक अर्थ करते हैं, केवल रसना इन्द्रिय के आहार से न लेकर समस्त अन्तर-बाह्य इन्द्रियों के आहार से लिया है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध बाह्य इन्द्रियों के आहार हैं, ऐसे ही संकल्प, चिंतन, मन और बुद्धि के आहार हैं। इन सबसे हमें संस्कार प्राप्त होते हैं। ये सभी शुभ, शुद्ध और मर्यादित होने चाहिये। यानी हम शुभ देखें, शुभ सुनें, शुभ का स्पर्श करें, शुभ आहार करें, शुभ घ्राण करें, शुभ बोलें, शुभ विहार करें, शुभ संकल्प करें, शुभ चिन्तन करें। शुभ श्रवण-मनन, निदिध्यासन करें।

सम्यक् आहार-विहार भगवान् बुद्ध के शब्दों में इस प्रकार है—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, सम्यक् समाधि।

सोना-जागना भी सम्यक् होना चाहिए। अपनी-अपनी शरीर की प्रकृति के अनुसार सुषुप्ति का समय निर्धारित करना चाहिए।

साधना में हम जैसे-जैसे आगे बढ़ते जाते हैं राग-द्वेष कम होते जाते हैं, वैसे-वैसे स्वप्न कम होने लगते हैं। जैसे-जैसे स्वप्न कम होने लगे तब फिर 5-7 घण्टे की निद्रा आवश्यक नहीं रहेगी। 2-3 घण्टे की स्वप्न रहित गाढ़ी निद्रा से काम चल जाएगा।

अपने शरीर की प्रकृति को समझकर न अधिक सोना न अधिक जागना। एक परिमित मात्रा में करें तो यह योग दुःख हरने वाला सिद्ध होगा।

इस प्रकार हिन्दू जीवन पद्धति शुद्ध और मर्यादित आहार-विहार पर टिकी हुई है। इनमें प्रमाद करने से पतन की सम्भावना निश्चित है—

अजामिल का पतन क्यों हुआ था? उसने एक शूद्र और वेश्या के अर्धनग्न रूप को देखा और वह कहां तक पतित हो गया, यह श्रीमद्भागवत पुराण में चित्रित है। सौभरि ऋषि महा तपस्वी थे। उनका पतन क्यों हुआ? मछलियों की क्रीड़ा को रस पूर्वक देखने से उनका पतन हुआ।

महामुनि विश्वामित्र जैसे तपस्वी मेनका को देखकर आसक्त हो गए। तप छोड़कर गृहस्थी बसा ली।

देवराज इन्द्र और अहिल्या, देवर्षि नारद और विश्वमोहिनी के प्रसंगों को ध्यान में लेवें, आदि-आदि।

गीता मध्यम मार्ग की समर्थक है, न भोगों को खुली छूट और न ही उनका कठोरतापूर्वक दमन वरन् साधक यथायोग आहार-विहार प्राप्त करे। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय परम्परा भोगों के दमन का समर्थन नहीं करती। बौद्ध धर्म के पतन का बहुत बड़ा कारण इस भारतीय परम्परा का उल्लंघन करना है। भगवान् बुद्ध चतुराश्रम व्यवस्था का उल्लंघन करके ब्रह्मचर्य से सीधे भिक्षु पद की दीक्षा देने लगे। बाद में भगवान् बुद्ध के न चाहते हुए भी स्त्रियों को संघ में प्रवेश मिल गया तो बड़े दुःख के साथ आनन्द से कहा था कि यह आन्दोलन जो 1500 वर्ष शुद्धता से चलता अब 500 वर्ष में समाप्त हो जायेगा। भगवान् बुद्ध ने भिक्षुणियों के लिए कठोर नियम बनाये, सावधानी रखी, पर कालान्तर में भिक्षु-भिक्षुणियों के मठ आमने-सामने बनने लगे। कालान्तर में बौद्ध धर्म को राज्याश्रय मिल गया जिससे बौद्ध विहारों में सब सुख-सुविधायें, सम्मान एवं निश्चित जीवन उपलब्ध होने लगा। परिणामस्वरूप बड़ी संख्या में अल्प वयस्क तरुण-तरुणी के दल के दल भिक्षु-भिक्षुणी बनने लगे और उनके आमने-सामने मठ बन गये। दीर्घकाल तक कठोर संयम पालन करना उनके लिए सम्भव नहीं रहा और बीच में गृहस्थाश्रम की कड़ी न होने तथा स्वयं भगवान् बुद्ध के न होने से उनका मन वाममार्ग की ओर झुक गया जहां पंच मकार की खुली छूट है। फिर भिक्षु-भिक्षुणियों में खुलकर व्यभिचार, पापाचार चलने लगा। अंगदेश (मुंगेर, भागलपुर) बौद्ध सिद्धों, कणहपा, सिरहपा आदि ने बौद्ध दर्शन में वामाचारी तांत्रिकों के पक्ष को मिश्रित करके अपने धर्म ग्रन्थ की वाणियों में पंच मकार-मद्य, मांस, मीन, मुद्रा, मैथुन की प्रशंसा लिखनी प्रारम्भ कर दी तथा इसे अति सीमा तक लिखने लगे कि डोमिनी या रंजकी के साथ सम्भोग करने पर तुरन्त निर्वाण पद की प्राप्ति हो जाती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में ऐसे भ्रष्ट बौद्ध सिद्धों की वाणियों को उद्धृत किया है।

यदा विनियतं चित्त,-मात्मन्येवा-वतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्व-कामेभ्यो, युक्त इत्युच्यते तदा॥6/18॥

जिस समय अच्छी तरह से वश में किया हुआ चित्त समस्त कामनाओं से निःस्पृह हो अपने में ही स्थित हो जाता है, उस समय उस पुरुष को युक्त (समाहित) कहा जाता है।

यथायोग्य आहार-विहार, यथायोग्य सम्यक् संकल्प, सम्यक् चेष्टा, सम्यक् आजीविका आदि अपनाते हुए जो ध्यानाभ्यास करता है वह पूर्णता की ओर आगे बढ़ता है।

प्रस्तुत श्लोक में यह बता रहे हैं वह पूर्णता की स्थिति क्या है तथा उसमें क्या होता है। उस समय साधक का चित्त अच्छी तरह से नियंत्रित हो जाता है। समस्त कामनाओं के प्रति वह स्पृहहीन हो जाता है और अपने में चित्त स्थिर हो जाता है।

'विनियत' का अर्थ है विशेष रूप से नियंत्रित चित्त—चित्त रूपी सरोवर में वृत्तियों की लहरें उठती रहती है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध से सम्बन्धित वृत्तियां उठती रहती है। संसार में हमने जो कुछ भी देखा है, सुना है, खाया है, छुआ है, सूंघा है उसके संस्कार चित्त में उठते रहते हैं, जागृत् होते रहते हैं। पर जब इन लहरों का उठना बंद हो जाता है तो उस अवस्था को विनियंत्रित कहते हैं।

यह अवस्था कब आती है जब हम ब्रह्म रस को, आत्म रस को चख लेते हैं। उसमें स्थित हो जाते हैं। गुरु नानक देव कहते हैं कि वह रस आवत, यह रस नहीं भावत। जब आत्म रस आने लगता है तब संसार रस अच्छा नहीं लगता, वह स्वतः ही छूट जाता है। इसे ही भगवान् दूसरे अध्याय के स्थितप्रज्ञ दर्शन में कहते हैं—

रस-वर्जं रसोऽप्यस्य, परं दृष्ट्वा निवर्तते।2/59।

यानी परब्रह्म का साक्षात्कार कर लेने पर संसार के प्रति, विषयों के प्रति रस बुद्धि समाप्त हो जाती है।

ऐसी अवस्था में वह प्रभु की स्मृति में, आत्मा की स्मृति में जीता है, और प्रभु की विस्मृति में मृत्यु चाहता है।

माण्डुक्य उपनिषद् में इस अवस्था का वर्णन करते हुए कहते हैं—

प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थ मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।

वह प्रपंचों का उपशम रूप, शान्त, शिव अद्वैत रूप चौथी (तुरीय) अवस्था है, वही आत्मा है, वही जानने योग्य है। यह योग युक्त, योगारूढ़ होने की अवस्था है।

यथा दीपो निवातस्थो, नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यत-चित्तस्य, युञ्जतो योग-मात्मनः॥6/19॥

जिस तरह वायु-रहित (वायु प्रवाह रहित) स्थान में दीपक (दीपक की लौ) चलायमान नहीं होता, वैसी ही उपमा आत्मा के ध्यान में तन्मय योगी के जीते हुए चित्त की कही गयी है।

यहां भगवान् द्वारा योगी के चित्त की उपमा दीपक की निष्कम्प शिखा के सर्वोभ्य बिन्दु से की गई है जो कि बहुत सूक्ष्म होता है। उस पर मन स्थिर कर लिया जाए तब वह योग का अधिकारी हो जाता है।

यत्रोप-रमते चित्तं, निरुद्धं योग-सेवया।
यत्र चैवात्म-नात्मानं, पश्यन्-नात्मनि तुष्यति॥6/20॥

जिस अवस्था में योग के सेवन से निरुद्ध हुआ चित्त उपरति को प्राप्त हो जाता है तथा जिस अवस्था में शुद्ध, सूक्ष्म, एकाग्र अन्तःकरण द्वारा अपने सच्चे

स्वरूप का अनुभव करता हुआ आत्मा में (अपने आप में ही, निज स्वरूप में) ही संतुष्ट रहता है।

योगी के चित्त की उपमा निष्कम्म दीप शिखा से करने के पश्चात् योग के फल, उसकी महिमा को बताया जा रहा है।

योगाभ्यास के फल स्वरूप जब चित्त संसारिक विषयों से, संसार से उपराम हो जाता है, विषय भोगों के प्रति पूर्ण विरक्ति हो जाती है और चित्त उससे बिलकुल अनासक्त, निर्लिप्त, असंग हो जाता है, उसको कहते हैं उपराम हो जाना। 'उपरते'।

स्वामी अखण्डानन्दजी ने एक बहुत ही मधुर व्यंजना दी है। बोले उपराम माने जो राम के पास हो। उपासना माने जो परमात्मा के पास बैठा हो। तो उपराम माने राम के पास और राम के पास लक्ष्मण रहते हैं। उपरत भक्त का सुन्दरतम उदाहरण लक्ष्मण हैं। लक्ष्मण का चित्रण करते हुए तुलसीदासजी ने कहा है—

गुर पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पति आहू।
मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी, दीनबन्धु उर अन्तरजामी।

मेरा कोई पिता नहीं है, मेरी कोई मां नहीं है, मेरा कोई गुरु नहीं है, बनाकर नहीं बोल रहा हूं, स्वाभाविक सत्य बोल रहा हूं—प्रभु आप मुझ पर विश्वास कीजिए, अपने भक्त की बात पर, हे प्रभु! तुम ही एक मेरे सर्वस्व हो, तुम अन्तर्यामी हो, तुम दीन बन्धु हो। तुम मेरे हृदय की बात जानते हो। उपराम होने का मतलब क्या हुआ? जगत् के भोगों से, जगत् के आकर्षणों से अनासक्त होकर जगत् के आकर्षणों की आसक्ति त्याग कर, भगवान् की ओर चले जाना। लक्ष्मण इसके सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं।

चित्त बहुत चंचल है। वह किसी न किसी वृत्ति में रमण करता रहता है। जैसी वृत्ति होती है, हम वैसे हो जाते हैं, वृत्ति के साथ एकरूप हो जाते हैं। चित्त में काम की वृत्ति आई तो हम कामी हो जाते हैं, चित्त में क्रोध वृत्ति आई तो क्रोधी, लोभ की वृत्ति आई तो लोभी, दुःख वृत्ति आई तो दुःखी, भय की वृत्ति आई तो भयभीत, चिन्ता की वृत्ति आई तो चिन्तित, ज्ञान की वृत्ति उठी तो ज्ञानी, धर्म की वृत्ति उठी तो धार्मिक, पाप की वृत्ति उठी तो पापी हो जाते हैं।

जब हम चित्त की वृत्तियों का पूर्ण निरोध कर देते हैं, तब हम चित्त में कोई दूसरी वृत्ति आने नहीं देते। चित्त में कोई दूसरी वृत्ति नहीं आएगी, तब चित्त निरुद्ध हुआ और निरुद्ध चित्त का लक्षण बताया—तदा द्रष्टुः स्वरूप अवस्थानं—जब चित्त में कोई दूसरी वृत्ति नहीं रहती, चित्त अपने सहज स्वरूप में रहता है, तो चित्त

चित्त नहीं रहता। वह स्वरूप हो जाता है, आत्मा हो जाता है, शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वरूप हो जाता है।

चित्त और आत्मा में अन्तर क्या है? जब चित्त में दूसरी और लौकिक वृत्तियां आती रहती हैं, तो अपने वास्तविक स्वरूप में और अपने बीच में एक पर्दा पड़ जाता है। उस पड़े हुए पर्दे के कारण हम उन वृत्तियों के साथ एक रूप हो जाते हैं, यानी वृत्तियों के अनुरूप हम कभी क्रोधी, लोभी, मोही, दुःखी हो जाते हैं और अपने स्वरूप से दूर हो जाते हैं और जब हम सभी लौकिक विषयों से उपराम हो जाते हैं तब हम राम में, आत्मा में, ब्रह्म में स्थित हो जाते हैं और उसी में संतुष्ट रहते हैं।

सुख-मात्यन्तिकं यत्तद्,-बुद्धि-ग्राह्य-मतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं, स्थितश्-चलति तत्त्वतः॥6/21॥

जिस अवस्था में यह योगी केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि द्वारा ग्रहण करने योग्य इन्द्रियों से परे आत्यन्तिक आनन्द है उसे जानता है तथा जिस अवस्था में स्थित हुआ अपने आत्मस्वरूप से तनिक भी विचलित नहीं होता—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं, मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्-स्थितो न दुःखेन, गुरुणापि विचाल्यते॥6/22॥

जिस आनन्द की अवस्था को प्राप्त करके योगी पुरुष अन्य किसी लाभ को उसकी अपेक्षा अधिक नहीं समझते, जिस आनन्द की अवस्था में अवस्थित होकर भारी दुःख से कभी विचलित नहीं होते, उस अवस्था को योग कहते हैं।

आत्मा के स्वरूप भूमानन्द में प्रतिष्ठित होने से अन्य कोई आनन्द उससे अधिक नहीं प्रतीत होता और ब्रह्मस्वरूप में स्थिर भाव से प्रतिष्ठित होने पर महान् दुःख की आंधी भी योगी को उस अवस्था मे विचलित नहीं कर सकती।

रामकृष्णदेव ने कहा है—आनन्द तीन प्रकार का है—विषयानन्द, भजनानन्द और ब्रह्मानन्द। मनुष्य सर्वदा जिस काम-काञ्चन के सुख में मत है वही विषयानन्द है, ईश्वर के नाम का गुणगान करने से जो आनन्द मिलता है उसका नाम भजनानन्द है और भगवान् के दर्शन से जो आनन्द प्राप्त होता, वही ब्रह्मानन्द है।

इस ब्रह्मानन्द को ही भूमानन्द कहते हैं, 'सा काष्ठा सा परागति' कहते हैं। इस भूमानन्द की प्राप्ति में कोटि-कोटि विषयानन्द की अनुभूति होती है। इस भूमानन्द में प्रतिष्ठित होने पर महान् दुःख भी योगी के मन को विचलित नहीं कर सकता।

यह दुःखातीत अवस्था या केवल आनन्द की अवस्था है। उपनिषद् उस अवस्था के विषय में कहती है।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्द ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन॥

अर्थात् जिस आत्मा को जान न सकने के कारण मन के साथ वाक्य लौट आता है उस ब्रह्मानन्द को अपरोक्ष रूप से अनुभव करने पर मनुष्य किसी से भी भय नहीं पाता अर्थात् चिर अभय को प्राप्त कर लेता है।

जिसे प्रभु की जरा सी भी झलक मिल जाए उसके जीवन में चलायमान होने का कोई भी कारण नहीं। लेकिन हमें कोई भी झलक नहीं है, इसलिए छोटी सी चीज भी चलायमान कर जाती है। पर जिसे ब्रह्म संस्पर्श मिल जाता है, उसके भीतर आनन्द की सतत् वर्षा होने लगती है। बाहर कितना भी दुःख आ जाए बाहर ही रहता है, भीतर प्रवेश नहीं कर पाता।

मंसूर अद्‌भुत मुस्लिम फकीर था। वेदान्त से प्रभावित वह अनहलक 'मैं ब्रह्म हूं, मैं ब्रह्म हूं।' बोलता था। इस्लाम में यह बड़ा कुफ्र है। अतः सूली दी गयी। कोई उस पर पत्थर फैंक रहा है, गालियां दे रहा है, कोई हाथ काट रहा है, कोई पैर काट रहा है, आंख फोड़ने के लिए छुरा लेकर खड़ा है पर यह सब देखकर भी मंसूर भयभीत नहीं वरन् प्रसन्न है। भीड़ में से किसी ने पूछा—मंसूर किसको देखकर हंस रहे हो? मरने के करीब हो? तो मंसूर ने कहा कि तुम्हें मौत दिखाई दे रही है, मुझे महामिलन दिखाई दे रहा है। यहां से विदा हो जाऊंगा, प्रभु से महामिलन हो जाएगा। उसकी बाहें चारों तरफ फैली हुई दिखाई पड़ रही हैं। मुझे जल्दी विदा कर दो, ताकि उसे और प्रतीक्षा न करनी पड़े। मंसूर के हाथ काटे तो लहू बहने लगा। उससे उसने वजू किया, लहू को पानी की तरह हाथ पर फेर कर। किसी ने पूछा, यह क्या कर रहे हो? मंसूर ने कहा कि मैं प्रभु से मिलने के पहले वजू कर रहा हूं। जीवन से हाथ धोकर प्रभु की यात्रा पर जा रहा हूं।

बुद्ध के आखिरी 6 महीने बहुत पीड़ा में बीते। पीड़ा उनकी तरफ से जिन्होंने देखा—बुद्ध की तरफ से नहीं।

बुद्ध एक गांव में ठहरे हैं। उस गांव के एक शूद्र ने, एक गरीब आदमी ने बुद्ध को निमंत्रण दिया कि मेरे घर भोजन करें। उसके कुछ क्षण बाद ही धनपति ने आकर बुद्ध को कहा, मेरे घर भोजन स्वीकारें। बुद्ध ने कहा, निमंत्रण आ गया है। उस अमीर आदमी ने उसकी तरफ देखा और कहा, इस आदमी का निमंत्रण! इसके पास खिलाने को भी कुछ होगा? बुद्ध ने कहा यह दूसरी बात है बाकी निमंत्रण उसका ही स्वीकार किया।

उसके घर में भोजन के नाम पर रूखी रोटियां थी। बरसात के समय में कुकुरमुत्ता पैदा हो जाता है गरीब लोग उसको इकट्ठा कर रख लेते हैं सुखाकर

फिर सब्जी बनाकर खाते हैं। कभी-कभी कुकुरमुत्ता जहरीला होता है। बुद्ध के लिए कुकुरमुत्ते बनाए थे, वे जहरीले थे, कड़वे जहर थे, मुंह में रखना मुश्किल था, पर उसके पास एक सब्जी थी। बुद्ध ने सोचा बताऊंगा तो यह कठिनाई में पड़ेगा। सारी जहरीली सब्जी को खा गए और कहते रहे बहुत आनन्द आ रहा है। जैसे श्री बुद्ध वहां से गए, उस आदमी ने सब्जी चखी तो हैरान हो गया। भागा हुआ आया, अरे वह तो जहर था और छाती पीट कर रोने लगा। तब बुद्ध ने कहा—तू धन्य भागी है। क्योंकि हजारों वर्षों में बुद्ध जैसा व्यक्ति पैदा होता है। दो ही व्यक्तियों को सौभाग्य मिलता है—पहला भोजन कराने का अवसर उसकी मां को मिलता है और अंतिम भोजन कराने का अवसर तुझे मिला है और उसे समझा-बुझाकर लौटा दिया।

बुद्ध के शिष्य कहने लगे आप क्या कह रहे हैं? यह सौभाग्यशाली है। यह तो हत्यारा है दण्ड का पात्र है। एक बार कह देता कि यह कड़वा है तो यह दुर्घटना नहीं होती। बुद्ध ने कहा यह दुर्घटना रुकने वाली नहीं थी। किसी के माध्यम से होने वाली ही थी। तो जिन्हें ब्रह्म संस्पर्श प्राप्त हो जाता है उन्हें संसार की कोई घटना उन्हें हिला नहीं सकती।

हरिदास के कृष्ण प्रेम को देखकर मुसलमान शासक जलते-कुढ़ते थे। उन्होंने हरिदास को कई भय तथा कई प्रलोभन दिखाए किन्तु उनका कहना था, 'आप मेरी देह के टुकड़े-टुकड़े करवा दें, तो भी जब तक मेरे शरीर में प्राण हैं, तब तक 'मैं हरिनाम नहीं छोड़ सकता।' काजियों के हुक्म से हरिदास को बाजारों में घुमाया गया और निरन्तर बेंतों से मार देकर हरिदास के शरीर की खाल उधेड़ी गई, किन्तु हरिदास के मुख से निरन्तर यही ध्वनि निकलती थी, 'हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे।' उनके शरीर से खून की धाराएं बह रहीं थी किन्तु उनके मुख से आह तक न निकली। वे निरन्तर हरि ध्वनि कर रहे थे। इससे भी बढ़कर वे अपने को दण्ड देने वालों के कल्याण के लिए भी प्रभु से प्रार्थना कर रहे थे। अंत में जब मुल्कपति (मुसलमान शासक) ने हरिदास जी से इतना घोर दण्ड देने के लिए क्षमा मांगी तो इस महान् भक्त ने कहा—'इसमें आपका क्या दोष है? मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार ही दुःख-सुख भोगता है।'

तं विद्याद् दुःख-संयोग,-वियोगं योग-सञ्ज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो, योगोऽनिर्विण्ण-चेतसा॥6/23॥

अर्थात् दुःख (रूप संसार) के संयोग के अभाव का नाम 'योग' है उसको जानना चाहिए, वह योग (उसकी प्राप्ति का प्रयास न उकताते हुए अथवा धैर्य और उत्साह युक्त चित्त से पूर्ण श्रद्धा से) निश्चय पूर्वक करना कर्तव्य है (अथवा अवश्य ही करना चाहिए)।

आनन्द की चरम अवस्था का अनुभव योगी करता है वह हठयोग की चरम स्थिति से भिन्न है। हठयोग की समाधि में जड़ता होती है, उसमें आनन्द का लेश भी नहीं रहता। महर्षि पतंजलि ने भी जिस समाधि को लक्ष्य के रूप में प्रतिपादित किया है उसमें भी सुख (आनन्द) की सम्वेदना का नितान्त अभाव है।

पर इस वेदान्तोक्त, गीतोक्त स्थिति में साधक अतिशय आनन्द का अनुभव करता है।

वस्तुतः हमारी सारी चेष्टाओं के मूल में दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति है। गीतोक्त समाधि का सुख चरम-परम सुख है।

मानव शरीर में ही सुख प्राप्ति का मापक यंत्र भी लगा हुआ है। जो सुख अपेक्षाकृत उच्च होते हैं उनमें निम्नलिखित लक्षण पाये जाते हैं—

(1) शक्ति का व्यय कम और फल अपेक्षाकृत अधिक।

(2) अधिक लोगों में बांटने की क्षमता।

(3) Productivity : वह जीवन-मूल्य जिसका प्रयोग होने से नष्ट हो जाता है वो घटिया जीवन-मूल्य और यदि प्रयोग से बढ़ता है तो उस दृष्टि से उच्च जीवन-मूल्य है।

Sex (काम)—तृप्ति सबसे घटिया जीवन-मूल्य है क्योंकि इसमें शक्ति का व्यय अधिक और प्राप्त सुख कम होता है। इसे सगे भाई से भी बांटा नहीं जा सकता। यह प्रयोग से क्षीण हो जाता है, बढ़ता नहीं है। इसके ऊपर पेट का स्थान है। अतः रोटी का जीवन-मूल्य काम तृप्ति से अधिक है। इसमें काम की अपेक्षा शक्ति कम लगाकर सुख अधिक प्राप्त किया जाता है। भोजन को मित्र, बंधु, अतिथि और निर्धन के साथ बांटा जा सकता है। इसलिए भोजन का मूल्य काम-सुख से अधिक है। उसके ऊपर वस्तु का मूल्य है, उसके ऊपर बाहुबल, उसके ऊपर कंठ (गायन विद्या), उसके ऊपर वक्तृत्व शक्ति, उसके ऊपर दार्शनिक और सबसे ऊपर ब्रह्मज्ञान का मूल्य है।

इस प्रकार सुखों का क्रम है। इसमें सबसे ऊपर ब्रह्म ज्ञान का सुख है। इसे भूमा (सुख) भी कहते हैं। इससे ऊंचा और कोई सुख नहीं है।

इस स्थिति के पहुंच जाने पर फिर वहां से साधक विचलित नहीं होता, चलायमान नहीं होता है। चाहे कितने भी झंझावात, तूफान आए वह उसके आत्म-स्वरूप से विचलित नहीं होता।

इस ब्रह्मानन्द भूमानन्द को 'सा काष्ठा सा परागति' कहते हैं। वह ब्रह्म में स्थित हो जाता है। अतः जिसे भी ब्रह्म की, प्रभु की जरा सी भी झलक मिल

जाए उसे बड़े से बड़ा दुःख भी विचलित नहीं कर पाता। लेकिन हमें कोई भी झलक नहीं इसलिए छोटी सी चीज भी, छोटा सा दुःख, छोटी-सी बाधा हमें विचलित, दुःखी, निराश कर देती है, अपनी स्थिति से पतित कर देती है। पर जिसे ब्रह्म संस्पर्श मिल जाता है उसके भीतर आनन्द की सतत् वर्षा होने लगती है, बाहर कितना भी दुःख आ जाए बाहर ही रहता है, भीतर प्रवेश नहीं कर पाता। यह गुरु गोविन्द सिंह, तेग बहादुर, वंदा वैरागी, अर्जुन देव, गुरु नानक देव, मतिदास आदि के जीवन एवं बलिदान से स्पष्ट है। सिकन्दर की भारतीय संतों की वार्ता से स्पष्ट है। मीरा बाई, तुलसीदास, चोखा मेला, संत ज्ञानेश्वर आदि के जीवन से स्पष्ट है। केवल आत्मा की अमरता के प्रति निष्ठा के बल पर कितने क्रान्तिकारी बंधु हंसते-हंसते देश की स्वतंत्रता के लिए फांसी के फन्दे पर स्वयं झूल गए।

जिन्होंने केवल आत्मा की अमरता के प्रति निष्ठा के बल पर सर्वोच्च बलिदान दे दिया, फिर जो ब्रह्म संस्पर्श को प्राप्त हो गए, उनका क्या कहना? वे कभी अपने स्वरूप से च्युत नहीं हो पाते। कभी उनके जीवन में कमी की, उदासी की, ऊब की, विचलन की स्थिति नहीं होती। भगवान् बुद्ध और महावीर दोनों ही ज्ञान के पश्चात् चालीस साल जिन्दा रहे पर कभी चेहरे पर शिकन नहीं देखी गई। रामकृष्ण परमहंस, रमण महर्षि अन्तिम समय में शारीरिक कष्ट से पीड़ित रहे पर मन पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

कबीर दासजी कहते हैं—

चलती चक्की देखकर, दिया कबीरा रोय।
दुइ पाटन के बीच में, साबुत बचा न कोय॥

इसके उत्तर में ब्रह्म ज्ञानी पुत्र कमाल ने कहा—

चलती चक्की देख के, दिया कमाल हंसाय।
कील सहारे जो रहे सो क्यों पीसा जाय॥

पूरी गीता में योग की तीन परिभाषा की गई है—**योगः कर्मसु कौशलम्** 2/50 **समत्वं योग उच्यते** 2/48 **तं विद्याद् दुःख-संयोग,-वियोगं योग-सञ्ज्ञितम्** 6/23

कर्म की कुशलता को योग कहते हैं, जो बन्धन का हेतु न होकर मुक्ति का, प्रभु प्राप्ति का हेतु द्वार बन जाए। जो समता में स्थित हो जाता है वह ब्रह्म में स्थित हो जाता है क्योंकि ब्रह्म ही एकमात्र निर्दोष है, सम है। जो ब्रह्म में स्थित हो जाता है उसके लिए दुःख के संयोग का वियोग हो जाता है। उसको दुःख स्पर्श भी नहीं कर पाते।

एक बार नारदजी घोष करते हुए विचरण कर रहे थे—वियोग लोगे, हानि लोगे हानि। गृहस्थ तो क्या संन्यासी भी इच्छुक नहीं। हानि-वियोग के नाम से ही डर गए। किसी ने साहस करके पूछा नहीं, किसकी हानि, किसका वियोग? तब नारदजी ने स्वयं ही स्पष्ट किया दुःख के संयोग का वियोग। यह तो सभी को चाहिए।

दुःख के संयोग का वियोग का नाम योग है, तो दुःख किसको कहते हैं? दुःख द्वैत को कहते हैं। जब तक दो की सत्ता है वहीं काम-क्रोध-लोभ-भय, मोह की परम्परा चल पड़ती है। पर जब हम ब्रह्म में, आत्मा में स्थित हो जाते हैं, वहां ब्रह्म के अलावा, आत्मा के अलावा और किसी की सत्ता ही नहीं है और ब्रह्म या आत्मा अपने-आप में परिपूर्ण है, आप्त काम है, पूर्ण काम है, अभय रूप है, सत-चित्त-आनन्द रूप है। यहां द्वन्द्वों का, भय का, दुःख का अवसर शेष नहीं रहता। इसलिए यहां योग की परिभाषा दी है जो योग में, ब्रह्म में, आत्मा में स्थित हो जाता है उसको दुःख के संयोग का स्पर्श भी नहीं होता।

जब तक सृष्टि है, हमारा प्रारब्ध शेष है। सुख-दुःख आयेंगे, पर वह उससे चलायमान नहीं होगा, प्रभावित नहीं होगा, उसकी शांति भंग नहीं होगी। स्वयं प्रभु राम-कृष्ण को क्या दुःख नहीं आया?

कविवर गुलाब खंडेलवाल की कविता—

जिनका नाम लिए दुःख भागे।
मिला उन्हें तो दुःख ही दुःख, जीवन-भर आगे-आगे॥
छूटा अवध, साथ प्रिय जन का, शोक असह था पिता-मरण का,
देख दुःख मुनियों के मन का, वन के सुख भी त्यागे।
मिला उन्हें तो दुःख-ही-दुःख, जीवन-भर आगे-आगे॥
व्याकुल प्रिया-विरह में फिरना, कैसे हो सागर का तिरना,
मूर्च्छित हो भ्राता का गिरना, नित नव-नव दुःख जागे।
मिला उन्हें तो दुःख-ही-दुःख, जीवन-भर आगे-आगे॥
गूँजी ध्वनि जब कीर्ति-गान की, फिर चिर-दुःख दे गई जानकी,
माँग उन्हीं सी शक्ति प्राण की, मन तू सुख क्या मांगे?
मिला उन्हें तो दुःख-ही-दुःख, जीवन-भर आगे-आगे॥

राम जी के जीवन पर दृष्टि दौड़ाते हैं, कितना दुःख झेलना पड़ा—वनवास मिला, वहां मुनियों के कष्टों को देखा, फिर सीता का वियोग, लक्ष्मण का मूर्च्छित होना, पुनः सीता का वियोग, फिर सीता धरती में समा गई। लक्ष्मण को त्यागना पड़ा। दुःख ही दुःख देखने पड़े।

योगेश्वर कृष्ण के जीवन को देखें, जिनके जन्म के पहले मारने के लिए वचन हो चुका था। माता-पिता और हत्यारों के बीच समझौता हो चुका था कि जन्मते ही मार दिया जाए, जिनके जन्मने के पूर्व सात भाई-बहनों को मार डाला जा चुका था। जन्मते ही उसे मां की छाती से अलग कर दिया गया। गांव में कहीं जाकर छिपा दिया गया। छठी के दिन पूतना नाम की राक्षसी स्तनों में विष लगाकर विष पिलाने को पहुंची। फिर उन्हें मारने के लिए एक के बाद एक राक्षसों की पंक्ति आती रही, कभी अधासुर, मधासुर, शक्टासुर, लम्बासुर। 10-12 वर्ष की अवस्था में राज दरबार में दंगल के लिए बुलाया गया। बड़े-बड़े मस्त हाथी को शराब पिलाकर छोड़ दिया गया और ऐसे मल्ल जो 10-10 हजार हाथियों का बल रखते थे उन मल्लों की मल्लशाला में भेजा गया, शक्ति परीक्षण के लिए। अपने पालक माता-पिता से, मित्र मण्डली से, गोपबालाओं एवं गोप बालकों से ऐसे बिछड़े कि जीवन के 80 वर्ष तक पुनः मुख नहीं देखा। कंस के ससुर जरासंध ने सत्रह बार आक्रमण किया। मथुरा की रक्षा के लिए उन्हें युद्ध करना पड़ा। अठारहवीं बार इतना प्रबल आक्रमण किया कि श्रीकृष्ण को युद्ध क्षेत्र से भागना पड़ा। चारों तरफ से घेरकर मथुरा में आग लगा दी। भागे नंगे पांव पैदल। द्वारका जाकर द्वारका नगरी बसाई। महाभारत युद्ध में पांडवों की ओर से नेतृत्व सम्भाला जिसमें 18 अक्षोहिणी सेना का नाश हो गया। दुनिया के इतिहास में सबसे निरर्थक युद्ध यदुवंशियों ने लड़ा एवं मृत्यु के ग्रास बने। स्वयं एक बहेलिये के तीर से उनकी जीवन लीला समाप्त हुई। पर इन हर विपरीत परिस्थितियों में सदा प्रसन्न मुख रहे प्रसन्नात्मा रहे, कभी मुख मण्डल म्लान नहीं हुआ, प्रभावित नहीं हुआ।

ऐसे ही महात्मा बुद्ध, महावीर, आद्य शंकराचार्य, स्वामी विवेकानन्दजी के जीवन को देखें। महर्षि दयानन्द, योगीराज अरविन्दजी के जीवन में कितने और कैसे-कैसे कष्ट आए पर इन सबका अन्तर्मन कभी इनसे प्रभावित नहीं हुआ, कभी इनके मन की शांति भंग नहीं हुई, दुःखी नहीं हुए। दुःखों के संयोग से, प्रभाव से सदा मुक्त रहे हैं। सारे संसार में कांटे बिछे हैं उन्हें हम हटा नहीं सकते पर अपने पैरों में जूता पहनकर उसके दुःखद प्रभाव से मुक्त हो सकते हैं। वैसे ही जो योग में स्थित हो जाता है, ब्रह्म संस्पर्श पा जाता है, उसके जीवन में प्रारब्धवशात दुःख आयेंगे पर वह उसके प्रभाव से मुक्त रहेगा।

स निश्चयेन योक्तव्यो, योगोऽनिर्विण्ण-चेतसा।6/23।

योग बिना उकताए हुए, धैर्य और उत्साह युक्त चित्त से निश्चय पूर्वक करना हमारा कर्तव्य है ऐसा क्यों कहा? क्योंकि यह बोध सहजता से होता नहीं है। क्योंकि हमारे 84 लाख योनियों के संस्कार हमारे अन्दर पड़े हैं। 84 लाख योनियों से देह को ही सर्वस्व मानने के संस्कार पड़े हैं। इनका मिटना आसान नहीं है पर

असम्भव भी नहीं है। इसके लिए निश्चय की दृढ़ता चाहिए और यह समय एवं साधना सापेक्ष है। इसमें उकताने से नहीं चलेगा। संस्कार जितना दृढ़ है उसको हटाने का प्रयास भी उतना दृढ़ होना चाहिए और उसमें समय तो लगेगा ही, पर मनुष्य का स्वभाव है, किसी बड़े काम में लम्बा समय लगता है तो उससे उकताने लगता है, ऊबने लगता है। इससे काम नहीं चलेगा। इसके लिए थोड़ा समय नहीं, पूरा जीवन, केवल एक जन्म नहीं अनेक जन्मों की तैयारी मन में होनी चाहिए। तभी हम सफलता की आशा कर सकते हैं। बड़ी उपलब्धि चाहते हैं तो उतना ही प्रबल प्रयास एवं समय आवश्यक है।

इस संदर्भ में भगवान् गौडपादाचार्य ने एक कहानी बताई है : एक टिट्टिभी (टिटहरी) पक्षी अण्डे देने वाली थी। उसने पति से कहा, 'यह समुद्र का किनारा है, कहीं दूर चल कर अण्डे दे दें। समुद्र में ज्वार-भाटे आते हैं तो बहुत आगे पानी आ जाता है, हमारे अण्डे नष्ट हो जाएंगे।' टिट्टिभ खूब जवान था, मस्ती में था। उसने कहा, 'यहीं दे दे, क्या हिम्मत है समुद्र की जो हमारे अण्डे को कुछ नुकसान पहुंचा देवे!' टिट्टिभी ने सोचा कि होगी कोई इनके पास सिद्धि, वहीं अण्डे दे दिए। दो-चार दिनों में ज्वार आया तो अण्डे ले गया, टिट्टिभी रोने लगी, 'मैंने पहले ही कहा था, अब वह ले गया।' टिट्टिभ बोला, 'अरे! रो नहीं, मैं वापिस लाऊंगा।' वह एक-एक बूंद करके समुद्र से पानी बाहर लाने लगा! लोगों ने पूछा, 'क्या कर रहा है?' वह बोला, 'समुद्र को सुखा दूंगा, अंदर हमारे अण्डे मिल जाएंगे।' पहले तो लोग हंसे, फिर कुछ लोग उसके साथ हो गए कि अपनी जाति का पक्षी है, इसकी मदद करें। किन्तु उससे समुद्र में क्या होना था? टिट्टिभ के कर्म अच्छे थे। उधर से नारदजी निकले, तो देखा कि पक्षी लोग समुद्र खाली कर रहे हैं। जाकर पूछा, 'क्या कर रहे हो?' टिट्टभ ने कहा, 'समुद्र को खाली कर रहा हूं, मेरे अण्डे लेकर चला गया।' नारदजी ने कहा, 'अरे! तुम्हारे ऐसा करने से क्या समुद्र सूखने वाला है!' वह बोला, 'आप चिन्ता नहीं करो, हम खाली कर लेंगे।' नारदजी को दया आ गई, जाकर पक्षियों के राजा गरुड से कहा, 'देखो, समुद्र तुम्हारी प्रजा को दुःखी कर रहा है। तुम ध्यान ही नहीं देते हो।' गरुड ने कहा, 'मेरे रहते समुद्र ऐसा कैसे कर सकता है?' नारदजी ने बताया, 'टिट्टिभ पक्षी के अंडे लेकर चला गया है।' गरुड जोश में आए और अपने पंखों से प्रलयकारी वायु छोड़ने लगे जो समुद्र को सुखा दे। समुद्र हाथ जोड़कर सामने आकर कहने लगा, 'महाराज! आप कृपा करो। मैं सूख जाऊंगा।' गरुड ने पूछा, 'मेरी प्रजा को क्यों दुःखी करते हो?' वह बोला, 'मैंने क्या किया है?' गरुड बोले, 'टिट्टिभ के अंडे क्यों ले गए?' समुद्र ने कहा, 'महाराज! मेरी तो लहरे हैं, आती जाती हैं। इनसे कहो ये कहीं दूर अंडे दिया करें। इस बार इनके अंडे तो मैं

वापिस कर देता हूं।' अंडे वापिस कर दिए, गरुड शांत होकर चले गए। टिट्टिभी का काम बन गया।

ठीक इसी प्रकार योग को साधने के लिए दृढ़ संकल्प के साथ-साथ प्रबल प्रयास की दृढ़ता चाहिए। भगवान् बुद्ध भी योग की प्राप्ति के लिए गया में एक पीपल के वृक्ष के नीचे यह दृढ़ संकल्प करके बैठे कि पूर्ण बुद्ध हुए बिना इस आसन को नहीं छोड़ूंगा। उनकी परीक्षा के लिए मार (कामदेव) ने अपने प्रलोभनों के साथ उनके मन पर आक्रमण किया किन्तु सिद्धार्थ विचलित नहीं हुए। पुनः मार ने भयंकर भय की माया रचकर उन्हें विचलित करना चाहा, किन्तु भय तथा प्रलोभन-दोनों पर विजय प्राप्तकर बुद्ध को पूर्णिमा के दिन अनन्त ज्ञान की प्राप्ति हुई। बुद्ध हो जाने पर उनका मुखमण्डल सत्य के प्रकाश से देदीप्यमान हो उठा। सिद्धार्थ 'गौतम बुद्ध' बन गये। शाक्य मुनि भगवान अमिताभ हो गये। साधना का पथिक लक्ष्य पर पहुँचकर 'तथागत' हो गया।

गीता पुरुषार्थ प्रधान ग्रंथ है। गीता अपनी विभूतियों को बताते हुए कहती हैं, कि **पौरुषं नृषु** 7/8, पुरुषों में पुरुषत्व हूं। अतः गीता वीरों का, पराक्रमियों का ग्रंथ है, दुर्बल, कायर, नपुंसकों का नहीं। अर्जुन ने दुर्बलता दिखाई तो भगवान् ने दूसरे अध्याय के दूसरे एवं तीसरे श्लोक में जोरदार लताड़ लगाई। अतः कार्य कितना ही कठिन हो, असाध्य हो हम अपने पौरुष के बल पर, पुरुषार्थ के बल पर अवश्य सफल होंगे।

सङ्कल्प-प्रभवान्-कामांस्,-त्यक्त्वा सर्वा-नशेषतः।
मनसै-वेन्द्रिय-ग्रामं, विनियम्य समन्ततः॥6/24॥

संकल्प से उत्पन्न होने वाली सभी कामनाओं को पूरी तरह त्याग कर (और) मन (विवेक-बुद्धि) द्वारा इन्द्रिय समुदाय को सब ओर से रोककर (संयमित कर)।

शनैः शनै-रुपरमेद्, बुद्ध्या धृति-गृहीतया।
आत्म-संस्थं मनः कृत्वा, न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥6/25॥

धैर्य युक्त बुद्धि के द्वारा धीरे-धीरे उपरति को प्राप्त हो तथा मन को, आत्मा में सम्यक् रूप से स्थित करके अर्थात् सब कुछ आत्मा ही है—इस प्रकार मन को आत्मा में अचल करके अन्य कुछ भी चिंतन ना करो। यह योग की परमश्रेष्ठ विधि है।

संकल्प से काम उत्पन्न होता है। संकल्प काम का बीज है। यह पूरा जगत् संकल्प से बना है। ईश्वर के संकल्प से जगत् बना है **एकोऽहम बहुस्याम्**।

एक ईश्वर के संकल्प से सृष्टि बनी है। दूसरे, जीव के संकल्प से उत्पन्न सृष्टि है। ईश्वर अपने संकल्प माया द्वारा सृष्टि करता है, लोक कल्याण के लिए।

उसी प्रकार जीव अपने संकल्प से मोह द्वारा अपना संसार रच लेता है। वह स्वप्न में अपनी कल्पना द्वारा स्वप्न जगत रचता है और जागृत में अपने मोह सम्बन्धों से लगभग स्वप्न के समान अपना माना हुआ जगत् रच लेता है।

ईश्वर के संकल्प से निर्मित है नारी शरीर। उसके पिता ने कहा यह मेरी बेटी है, पुत्र ने कहा मेरी मां है, भाई ने कहा मेरी बहन है, किसी की भाभी है, मौसी है, बूआ है, साली है, दादी है, नानी है। ईश्वर के संकल्प में तो एक नारी शरीर है पर जीवों के अपने-अपने सम्बन्ध संकल्प के आधार पर वह नाना रूप ले लेती है।

जगत् दो प्रकार का है, एक बाह्य जगत् दूसरा अन्तः जगत्। बाह्य जगत् ईश्वर या समष्टि संकल्प जन्य है। अन्तः जगत् प्रति व्यक्ति संकल्प जन्य है। यह प्रत्येक जीव या मनुष्य का मनोविलास है। स्वप्न में जो जगत् दिखता है वह जीव का मनोविलास है। प्रत्येक व्यक्ति का अन्तः जगत् अलग-अलग है।

हम ईश्वर-संकल्प या समष्टि-संकल्प जनित बाह्य संसार को नष्ट नहीं कर सकते पर हम स्वयं के व्यक्ति-जनित संकल्प के संसार का नाश कर सकते हैं, त्याग कर सकते हैं।

जीव में संकल्प क्यों उत्पन्न होते हैं?

जीव में संकल्प होते हैं अज्ञान के कारण। अपने आत्म स्वरूप को भुला देने से वह अपने वास्तविक आप्तकाम, पूर्णकाम स्वरूप आत्मा को भुलाकर देहात्मभाव से ग्रसित हो जाता है। 84 लाख योनियों में देह-इन्द्रिय-मन से ही सम्बन्धित रहता है और ईश्वर की कृपा से जब उसे मानव शरीर प्राप्त होता है तब भी जन्म से उसे शरीर और उसके भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी का ही बोध होता है। धीरे-धीरे उसे इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहम् का बोध होता है, अपने माता-पिता परिवार का बोध होता है। मानव शरीर में भी जन्म से ही देह-इन्द्रिय-मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार को ही अपना वास्तविक रूप समझता है। शरीर है तो उसको भूख-प्यास सर्दी-गर्मी लगेगी ही। यह उसे जन्म से ही प्राप्त है और बहुत सी आवश्यकताएं मन-बुद्धि के विकास के साथ-साथ उत्पन्न होती हैं। पुत्रेषणा, वित्तेषणा, लोकेषणा उसमें समय के साथ जागृत होगी।

इस प्रकार जब हम अपने वास्तविक आत्मस्वरूप को, आत्मकाम, पूर्णकाम स्वरूप को अनादि अविद्या के कारण भुला देते हैं और अपने आपको शरीर-इन्द्रिय, मन-बुद्धि चित्त अहंकार मान लेते हैं तो तत्-तत् सम्बन्धित भूख या कामनाएं उत्पन्न होती हैं।

प्रत्येक कामना अभाव से उत्पन्न होती है। वह अभाव वास्तविक भी हो सकता है और कल्पित भी। निर्धन व्यक्ति पैसे के वास्तविक अभाव में पैसे की

कामना करता है और धनी व्यक्ति कल्पित अभाव से, अन्य धनियों की अपेक्षा कम धन है, इस भावना से लोभ से प्रेरित होकर धन की कामना करता है। तो अभाव अपने सच्चे आत्मस्वरूप, जो कि पूर्ण काम है, आप्तकाम है, को भुला देने से ही उत्पन्न होता है।

अविद्या से अभाव की प्रतीति, अभाव से कामना, कामना से संकल्प, संकल्प से कर्म, कर्म से कर्म-फल और कर्म-फल के परिपाक के लिए देश-काल का बंधन, कालचक्र, यही संसार का चक्र है। 84 लाख योनियों का भव चक्र चल पड़ता है।

कामना मनुष्य को भिखारी बना देती है। यह मनुष्य के अन्तर की शांति एवं समृद्धि से वंचित कर वहिर्मुखी बनाकर बाहर का नाच नचाने लगती है। वास्तव में शान्ति और शक्ति तो जीव के भीतर है, किन्तु वह बर्हिमुखी होकर बाहर की वस्तुओं में सुख शान्ति मानकर उन्हीं के पीछे अन्धा पागल बनकर दौड़ने लगता है।

कुछ लोग समझते हैं कामना में बड़ी शक्ति है जो मनुष्य को तेज दौड़ने, जोखिम के काम करने तथा वस्तुओं की प्राप्ति हेतु परिश्रम करने में समर्थ बनाती है।

वास्तव में यह शक्ति कामना में नहीं है वरन् स्वयं हमारे भीतर है। जब हम कामना करते हैं तब हमारी भीतर की शक्ति ही कामना के माध्यम से असार कार्यों में व्यय होने लगती है। कामना न शक्ति पैदा करती है न शक्ति बढ़ाती है वरन् शक्ति घटाती ही है।

कामना के माध्यम से जिन भोगों को प्राप्त करते हैं वह क्षणिक, अस्थायी सुख, शान्ति, समाधान देती है, क्योंकि वे स्वयं में अनित्य, अचित्त और दुःख रूप है। ययाति, सौभरि ऋषि, कासानोवा आदि का यही अनुभव है। हमने भोगों को नहीं भोगा, भोगों ने हमें भोग लिया, हमारी आयु, शक्ति क्षीण कर दी। स्थायी सुख, शान्ति, समाधान तो हमारे अन्दर आत्मा में निहित है जिसकी अनुभूति सुषुप्ति व तुरीयावस्था में होती है। प्रिय मोद-प्रमोद को भी भुलाकर हम सोना चाहते हैं पर सुषुप्ति में न भोजन है, न व्यायाम है, न विषय भोग है, न मनोरंजन है, न दवा है। सुषुप्ति के समय ही नवशक्ति, नव ऊर्जा, सुख, शान्ति, समाधान प्राप्त होता है। सुषुप्ति में देह-इन्द्रिय, मन-बुद्धि, अहम का भाव नहीं होता और हम आत्मा के शरण में होते हैं, पर सुषुप्ति का आनन्द द्वन्द्व कोटि का है निर्द्वन्द्व नहीं, अज्ञान का बीज शेष रहता है, अतः निरतिशय आनन्द नहीं है। क्योंकि वहां त्रिपुटि है (भोक्ता, भोग, और भोग्य), जहां त्रिपुटि वहां द्वैत है, जहां द्वैत है वहां परिश्रम है, जहां परिश्रम है वहां खालिस, Pure, शुद्ध, निरतिशय आनन्द नहीं

है। तभी हम सोने के पूर्व उठने का संकल्प डाल देते हैं। निर्द्वन्द्व, निरतिशय, शुद्ध आनन्द तुरीयावस्था का है, जब आत्मा के साथ एक रूप हो जाते हैं, आत्मा में स्थित हो जाते हैं, आनन्द रूप हो जाते हैं।

अतः जब विषय भोगों के प्रति वास्तविक दृष्टि, विवेक की दृष्टि, यथार्थ दृष्टि, दोष-दृष्टि जागृत होने पर विषय भोगों की असरता, निःसारता स्पष्ट होने लगती है तब विषय भोगों के प्रति महत्त्व बुद्धि, शोभन बुद्धि शेष नहीं रहती और मन धीरे-धीरे भोगों से उपराम होने लगता है।

इसमें हड़बड़ी करने से, घबराने से काम नहीं चलता क्योंकि असंख्य पूर्व जन्मों के भोगों के संस्कार हैं, असंख्य जन्मों से भोगों का अभ्यास है वह धीरे-धीरे छूटता है, धीरे-धीरे मन वश में आता है, धीरे-धीरे ही वह अनुशासन स्वीकारता है। कबीर ने कहा है—

धीरे-धीरे रे मना, धीरे सब कुछ होय।
माली सींचे सौ घड़ा, ऋतु आए फल होय॥

आपने बीज बोया है, सींचा है, ऋतु आने पर फल प्राप्त होगा।

शनैः पन्था शनैः कन्था शनैः पर्वतमस्तके।
शनै विद्या शनैः वित्तम् पंचै तानि शनैः शनैः॥

मार्ग चलना, कम्बल बनाना, पर्वतारोहण, विद्या, धन, ये पांचों धीरे-धीरे आते हैं।

लगे रहो भाई, तेरी बनत-बनत बन जाई।

भजन में, साधना में, अभ्यास में लगे रहो। एक न एक दिन तो भगवान् की कृपा हो ही जाएगी।

जब मन आत्मा से हटकर बाहर चला जाता है उस समय क्या करना चाहिए यह अगले श्लोक में बताते हैं—

यतो यतो निश्चरति, मनश्-चञ्चल-मस्थिरम्।
ततस्-ततो नियम्यैत,-दात्मन्येव वशं नयेत्॥6/26॥

यह अस्थिर और चंचल मन जिस-जिस विषय के निमित्त से विचरता है उस-उस (विषय) से उसे हटाकर आत्मा में ही निरूद्ध करें अर्थात् इसे आत्मा के ही वशीभूत किया करें।

पाश्चात्य दर्शन में दृश्यमान जगत् को यानी सारी सृष्टि को दो तत्त्वों में विभाजित किया जाता है—Mind and matter, वे यह मानकर चलते आ रहे हैं कि Mattar जड़ है, मन चेतन। भारतीय दर्शन उनकी भूल सुधारते हुए कहता

है Mind is also matter. इसलिए पश्चिम वाले Mind का अध्ययन करें या Matter का वे पूरे जड़वादी हैं।

मन जड़ कैसे है? इसके प्रमाण में भारतीय मनीषा कहती हैं, जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन। अन्न जैसी जड़ वस्तु का मन पर सीधा प्रभाव सिद्ध करता है कि मन भी जड़ है। जड़ औषधियों से मन को सुलाया जा सकता है। पाप के अन्न से मन में पाप के भाव पैदा होते हैं और पवित्र अन्न से पवित्र भाव का उदय होता है, भीष्म पितामह इसके साक्षी हैं।

भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार मन स्वरूप से सूक्ष्म जड़ पदार्थ है, किन्तु चेतन आत्मा से शक्ति उधार लेकर वह चेतन जैसा प्रतीत होता है क्योंकि उसकी प्रतीति भी चेतन सी होती है। इसलिए पाश्चात्य विचारक इसे चेतन तत्त्व ही मान बैठते हैं। वस्तुतः यह जड़ चेतन की ग्रंथि है। इस ग्रंथि को खोलना ही सबसे अच्छी आध्यात्मिक सफलता है।

मन रोमन देवता जेनस के समान प्रतीत होता है जो स्वर्ग के द्वार का रक्षक माना जाता है, जिसके दो मुख है, एक मुख से ईश्वर की ओर देखता रहता है और दूसरे मुख से वह बाहर से आने वाले आगन्तुकों की ओर।

मन भी जड़ वस्तुओं की ओर देखता है तब जड़ विषयों का भक्त बन जाता है। जब चेतन आत्मा की ओर निहारता है तो उसके लिए सब कुछ निछावर करने को तैयार हो जाता है। पुनः जड़ की ओर देखने पर चेतन तत्त्व के आकर्षण को भूल जाता है। जिस रंग में बैठता है उसी रंग में रंगता जाता है।

मन एक विलौरी शीशे के समान है जिसका अपना कुछ रंग नहीं है किन्तु जो निकट की वस्तु के रंग को तुरन्त ग्रहण कर उसी रंग का बन जाता है। मन को जो-जो भाव दिया जाए, जैसे जैसे वस्तु, व्यक्ति के संग रहे वह उसी उसी रंगत को तुरन्त ग्रहण कर वैसा-वैसा बनने लगता है। सबसे विचित्र बात यह है कि मन जड़ होते हुए भी इतना सूक्ष्म है कि किसी अन्य इन्द्रियों के द्वारा देखा नहीं जा सकता। अचम्भे की बात यह है कि मन स्वयं अदृश्य, अगोचर होते हुए भी निश्चित रूप से है और सब क्रिया कलाप, उत्पात यही कर रहा है। नास्तिक भले ही सर्वशक्तिमान परमेश्वर की सत्ता न माने किन्तु सर्वशक्तिमान मन की सत्ता तो सभी को माननी पड़ती है।

मन बड़ा चंचल है, स्थिर बैठता नहीं है। अतः भगवान् कहते हैं कि जब-जब मन आत्मा से भाग जाता है तब-तब उसे वहां से लौटाकर पुनः-पुनः आत्मा में बैठाना है। इसका दूसरा अर्थ है वहीं पर नाम-रूप काढ़कर (निकाल कर) अस्ति भांति प्रिय रूप आत्मा में मन रमावें। यह प्रक्रिया बिना थके बिना उबे दोहराते रहें।

इसका परिणाम क्या होता है यह अगले श्लोक में बताते हैं—

प्रशान्त-मनसं ह्येनं, योगिनं सुख-मुत्तमम्।
उपैति शान्त-रजसं, ब्रह्म-भूत-मकल्मषम्॥6/27॥

जिसके सारे पाप नष्ट हो गए, जिसका रजोगुण और मन सर्वथा शान्त हो गया है ऐसे ब्रह्मभाव को प्राप्त हुए योगी को उत्तम सुख की प्राप्ति होती है।

उपर्युक्त साधना प्रणाली अपनाने से धीरे-धीरे मन शान्त होने लगता है। कालान्तर में सिद्धि के फलस्वरूप योगी का चित्त संकल्प के अभाव से विक्षेप रहित होकर शांत हो जाता है। यह सत्व गुण की स्थिति है। इसमें रजो गुण और तमो गुण शान्त हो जाता है। रजो गुण में संघर्ष, द्वन्द्व आगे बढ़ेंगे, उसको हरा देंगे, मैं बड़ा वक्ता, मैं बड़ा विद्वान्, मैं बड़ा करोड़पति-अरबपति, मैं यशस्वी, मैं बड़ा भोगी, यह प्रतिस्पर्धा, चंचलता, सक्रियता रजो गुण के कारण है। रजो गुण ही आसक्ति लोभ, कामना, तृष्णा आदि को जन्म देकर शरीर और मन को चंचल बनाता है। ये रजोगुण की प्रवृत्तियां अब शान्त हो गयी हैं। तमोगुण हमें आलसी, प्रमादी, निद्रालु बनाता है। उसके भीतर का आलस्य, प्रमाद, मोह, दुर्गुण, दुराचार रूपी तमोगुण की वृत्तियां भी नष्ट हो जाती हैं। इस प्रकार वह निष्पाप हो जाता है। इस तरह रजोगुण और तमोगुण से ऊपर उठकर शुद्ध सत्व गुण में स्थित हो जाने के फलस्वरूप योगी ब्रह्म भाव में दृढ़ भाव से स्थित होकर निरतिशय सुख प्राप्त करता है। उसे यह अनुभूति होने लगती है कि मैं देह-इन्द्रिय-मन-बुद्धि नहीं सच्चिदानन्द ब्रह्म हूं। इस अनुभूति के फलस्वरूप वह श्रेष्ठ सुख का अधिकारी होता है। उत्तम सुख का तात्पर्य शुद्ध सात्विक सुख है।

युञ्जन्-नेवं सदात्मानं, योगी विगत-कल्मषः।
सुखेन ब्रह्म-संस्पर्श,-मत्यन्तं सुख-मश्नुते॥6/28॥

वह पाप रहित योगी इस प्रकार से अपने आपको (परमात्मा से) युक्त करते हुए अनायास ही परमब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति रूप अनन्त आनन्द का अनुभव करता है।

जब रजोगुण और तमोगुण शान्त हो जाते हैं, पाप रहित हो परमात्मा में समाहित चित्त अनायास ही परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति रूप अनन्त आनन्द का अनुभव करता है।

संसार में जितने भी सुख हैं वे सापेक्ष सुख हैं। वे व्यक्ति, वस्तु, परिस्थिति, वृत्ति पर निर्भर हैं। अतः असहज, द्वन्द्व कोटि का सुख, अल्पकालीन होता है। निरपेक्ष सुख, सहज सुख व्यक्ति, वस्तु, परिस्थिति, वृत्ति पर निर्भर नहीं है वह अपने-आपको, अपने स्वरूप में स्थित होने के कारण प्राप्त होता है। यह किसी कर्म विशेष का, क्रिया विशेष का परिणाम नहीं है, निर्द्वन्द्व सुख है। गोस्वामी

तुलसीदासजी ने ईश्वर को सहज सुखरासी (7/6/2) कहा है। छान्दोग्य उपनिषद की भाषा में (7/23/1) 'भूमा सुख' है।

सर्व-भूतस्थ-मात्मानं, सर्व-भूतानि चात्मनि।
ईक्षते योग-युक्तात्मा, सर्वत्र सम-दर्शनः॥6/29॥

समाहित अंतःकरण से युक्त और सब जगह समदृष्टि वाला (पुरुष) आत्मा (अर्थात् अपने स्वरूप) को समस्त भूतों में स्थित और समस्त भूतों को आत्मा में (स्थित, कल्पित, आत्मा में एकता को प्राप्त हुए) देखता है।

एक ही चेतन तत्त्व या आत्म तत्त्व या ब्रह्म तत्त्व, ईश्वर तत्त्व का सकल पसारा है, अपने-आपको जीव-जगत् के रूप में प्रकट किया है। जब हम योग के द्वारा परमात्मा तत्त्व में स्थित हो जाते हैं, उसी का सकल पसारा होने से अपने अन्दर और बाहर सर्वत्र प्रभु का दर्शन होता है। उसके लिए कोई पराया शेष रहता ही नहीं। सब अपने हो जाते हैं। इसी आधार पर तुलसीदासजी कहते हैं—

सीयराम मय सब जग जानी। करउँ प्रणाम जोरि जुग पानी।

फलतः सर्वत्र समदृष्टि हो जाती है और अपनी आत्मा में सब भूतों को और सब भूतों में अपने आपको देखते हैं। तब शोक, मोह, भय का आधार ही शेष नहीं रहता, क्योंकि कोई अन्य शेष बचता ही नहीं। अपने अलावा किसी अन्य की सत्ता न रहने से किसके प्रति शोक, मोह और, किससे भयभीत होवें?

यो मां पश्यति सर्वत्र, सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि, स च मे न प्रणश्यति॥6/30॥

और जो (पुरुष) मुझ (सर्वात्मा) को सर्वत्र देखता है तथा सबको मुझ (सर्वात्मा) में देखता है उसके लिए मैं अप्रत्यक्ष (अननुभूत), अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिए अप्रत्यक्ष-अदृश्य (अननुभूत) नहीं होता क्योंकि उसका और मेरा स्वरूप एक ही है।

इस श्लोक में भगवान् बता रहे हैं कि जो प्रभु में सबको, और सबमें प्रभु को देखता है उसके लिए न मैं अप्रत्यक्ष, अदृश्य होता हूं और न वह मेरे लिए अप्रत्यक्ष, अदृश्य होता है। क्योंकि तत्वतः प्रभु और आत्मा एक ही है।

शंकराचार्य की भाषा में—'जीवो ब्रह्मैव नापरः'।

सीय राममय सब जग जानी।
करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥ 1/7(घ)॥

सधुक्डो भाषा में भी एक पद्य प्रचलित है—

जो राम दशरथ का बेटा, वही राम है घट-घट लेटा।
वही राम है जगत पसारा, वही राम है सबसे न्यारा॥

यह पद्य प्रस्तुत श्लोक के भाव को सही-सही प्रकट करता है। जो राम जगत् प्रसारा है, सबके भीतर अन्तर्यामी के रूप में व्याप्त है, वही फिर 'सबसे न्यारा' भी है, सबसे अतीत भी है।

तो जो भक्त इस प्रकार अपने इष्टदेव की सबमें तथा सबको अपने इष्टदेव में देखता है और यह अनुभव करता है कि उसके इष्टदेव ही सबके उपादान और आधार हैं, उसके लिए इष्टदेव कभी ओझल नहीं होते और न वह स्वयं कभी इष्टदेव से ओझल होता है।

जो शिशु सर्वथा मां के आश्रित है और मां को छोड़कर कुछ नहीं जानता, उसके लिए मां कभी ओझल नहीं होती और वह भी मां के लिए कभी ओझल नहीं होता। मां को अपनी अन्य सन्तानों का ध्यान भले ही कुछ क्षणों के लिए न रहे, पर जो शिशु मां के बिना नहीं रह सकता अर्थात् मां को कभी ओझल नहीं करता, उसका ध्यान मां को निरन्तर बना रहता है। इसी प्रकार भक्त और भगवान् का सम्बन्ध रहता है। दोनों एक-दूसरे को कभी नहीं भूलते।

तुलसी बाबा ने एक बात बार-बार कही है कि मैं तुमको भूल जाऊं तो भूल जाऊं तुम मुझको मत भूलना।

बच्चा बाप की उंगली पकड़ेगा, मेले में जाएगा, धक्का आएगा तो उंगुली छूट जाएगी, बच्चा खो जाएगा। बच्चा रोने लगेगा। बाप ने अगर बच्चे की बांह पकड़ रखी है तो पकड़ पक्की है धक्के से छूटेगी नहीं। तो हे रामजी! मैंने आपको पकड़ा है—यह कच्ची पकड़ है। आप मेरी आंखों से ओझल नहीं होवें—यह कच्ची पकड़ है। मैं आपको सब जगह देखूं यह कच्ची पकड़ है। मालूम नहीं कब भूल जाऊं। मैं आपकी आंखों से ओझल न होऊं। 'तस्याहं न प्रणश्यामि'—उसके लिए मैं कभी आंखों से ओझल नहीं होता। सच में न प्रणश्यति—वह भी मेरी आंखों से अदृश्य नहीं होता। मैं बराबर उसको अपना मानकर उसको अपना स्वीकार करता हूं।

सूरदासजी का प्रसंग भिन्न है।

हाथ छुड़ाए जात हो निबल जानकर मोहि।
हिरदै से जब जाओगे मरद बदौंगो तोहिं॥

ऐसे ही तुलसीदासजी भी भगवान् से निवेदन करते हैं—

कहा कहौं छवि आपकी भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक नवत है धनुष बाण लो हाथ॥

इनका भगवान् से कितना घनिष्ठ एवं अनन्य सम्बन्ध है। वो भगवान् से कह रहे हैं कि आप मेरा हाथ थामो, मैं तो कभी भी फिसल सकता हूं।

इस प्रकार जो मुझे सर्वत्र देखता है और सबको मेरे में देखता है उसके लिए मैं अदृश्य नहीं होता, और मेरे लिए वो अदृश्य नहीं होता, चाहे वह किसी प्रकार से रहे, बाल रहे, पण्डित रहे, जड़ रहे वो किसी भी अवस्था में रहे, वो किसी भी रूप में रहे, वो वास्तव में मुझ में ही रहता है।

एक बार सनतकुमारजी अवधूत अवस्था में बैठे हुए थे, ध्यान की स्थिति में बैठे हुए थे। कई लोग होते हैं न आंखें खुली हुई रहती है और अन्दर के आनन्द में अखण्डता का अनुभव करते हैं, दर्शन करते हैं। एक बार ऐसी अवस्था में बैठे हुए थे कि उधर से भगवती पार्वती और भोलेनाथ उनके पास से निकले और वे तो बिल्कुल शून्य में देख रहे थे, ध्यान में मग्न थे। सनतकुमार ने प्रणाम नहीं किया तो पार्वतीजी नाराज हो गई कि देखो! ये कैसे ऊंट की तरह सिर ऊंचा करके देख रहा है और प्रणाम भी नहीं किया। तो कहा कि जा तू ऊंट हो जा। उसको ऊंट होने का श्राप दे दिया, तो ऊंट बन गए। ऊंट बनकर जंगल में विचरण करते रहे।

फिर कुछ समय पश्चात् उमा माहेश्वर उधर से निकले तो देखा कि सिर ऊंचा करके पत्तों को खा रहे हैं, तो उनके पास पहुंच कर पूछा, 'कहो कैसे हो? ठीक तो हो?' तो उसने कहा पहले से ज्यादा ठीक हूं। पहले तो लोकलाज के लिए कौपीन भी पहनता था। मल-मूत्र के अनन्तर शौचाचार करना पड़ता था। अब इन सबकी भी जरूरत नहीं। तो जिसका चित्त ब्रह्मानन्द में निमज्जित रहता है फिर चाहे वह किसी भी योनि में जाए उससे कोई फर्क नहीं पड़ता। अद्वैत अनुभव होने के पश्चात् वो किसी भी स्थिति के अन्दर रहे, उसमें जरा भी बाधा नहीं पड़ती।

सर्व-भूत-स्थितं यो मां, भजत्येकत्व-मास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि, स योगी मयि वर्तते॥6/31॥

इस प्रकार जो योगी एकीभाव में स्थित होकर समस्त प्राणियों में (आत्मरूप से) स्थित मुझको भजता है वह सब प्रकार से बरतता हुआ भी मुझ में ही बरतता है।

योगी अनुभव करता है उसके प्रेमास्पद ही सबके भीतर रमे हैं, इसलिए वह सबमें एकत्व का अनुभव करता है और वह जब उनसे व्यवहार करता है तो उसे लगता है कि वह अपने प्रेमास्पद भगवान् के विभिन्न रूपों के साथ व्यवहार कर रहा है। इसी अर्थ में यहां कहा गया है कि वह सब प्रकार से बरतता हुआ भी मुझ में ही बरतता है। उसकी सारी चेष्टाएं कर्म भगवान् को लेकर होती है, जैसा कि कहा गया है—यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्—हे शम्भो मैं जो-जो कर्म करता हूं, वह प्रत्येक तुम्हारी ही आराधना है।

'सर्वथा वर्तमानोऽपि' का अर्थ है सब प्रकार से करते हुए भी, किसी एक ही प्रकार से व्यवहार करते हुए नहीं। चाहे वह शुकदेव की तरह ध्यान में संत रहे। चाहे वह राजा जनक की तरह राज्य करे, चाहे वह याज्ञवल्क्य की तरह कर्म त्याग कर दे, चाहे वह दत्तात्रेय की तरह विचरण करे, ये सब रूप में भगवद् आराधना ही है। सब योगी अपने-अपने पूर्वाभ्यास, पूर्व संस्कार, प्रारब्ध, देश-काल की परिस्थिति आदि के कारण अलग-अलग तरह से व्यवहार करते हैं।

यहां एक संशय उठाया जा सकता है कि क्या 'सब प्रकार से बरतता हुआ भी (सर्वथा-वर्तमानोऽपि)' का अर्थ यह लिया जा सकता है कि 'वह अच्छा-बुरा, पाप-पुण्य, सब कुछ करता हुआ भी भगवान् में बरतता है?' इसके उत्तर में कहना होगा कि ऐसा अर्थ नहीं लिया जा सकता, क्योंकि समाधिवान, भगवत्प्राप्त पुरुष के द्वारा पाप-कर्म हो ही नहीं सकता। श्री रामकृष्ण देव कहा करते थे कि जगन्माता ऐसे लोगों के पैर बेताल में नहीं पड़ने देती।

आत्मौपम्येन सर्वत्र, समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं, स योगी परमो मतः॥6/32॥

अर्जुन, जो अपने समान ही सर्वत्र बराबर देखता है—चाहे वह सुख हो, चाहे दुःख, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।

यह गीता के चरम-परम श्लोकों में एक है। इसे थोड़ा विस्तार से देखें—हमारे आपके जीवन की यात्रा कैसी चलनी चाहिए? हमारा अपना समाज हो या अन्यों का समाज हो या राष्ट्र उसके साथ व्यवहार की कसौटी क्या होनी चाहिए? क्या मापदण्ड होना चाहिए? इस श्लोक में दूसरों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, उसका मापदण्ड बताया गया है। इससे ऊंचा मापदण्ड आज तक न दिया जा सका और न भविष्य में दिये जाने की सम्भावना है। यह हमारा समाज-दर्शन है। भले ही आज स्वार्थपरता के कारण हम इससे च्युत से हो गए हैं। दुर्भाग्य है कि ऐसे ऊंचे दर्शन के रहते स्वार्थपरता के कारण हम अधोपतित हो गए। हमने उसे केवल ग्रंथ में बंद कर रखा और समाज के क्षेत्र में वर्ण, जाति, सम्प्रदाय, पंथ, मजहब आदि पर आधारित भेदभाव का दर्शन लागू करते हुए ही अपने में घोर स्वार्थपरता का परिचय दिया। आज भारत को इसी क्रान्तिकारी दर्शन की आवश्यकता है।

'आत्मोपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन'। जो सबको अपने समान देखता है। आप जैसा चाहते हैं लोग आपसे व्यवहार करें, वैसा व्यवहार आप लोगों से करें। जैसे हमको सुख अनुकूल है, दुःख प्रतिकूल है वैसे ही आप समझें कि दूसरों को भी सुख इष्ट है और दुःख अनिष्ट है। कोई दुःख नहीं चाहता, सब

सुख चाहते हैं। सब दुःख से दूर रहना चाहते हैं। यही भाव हमारा अन्यों के प्रति होना चाहिए।

आत्मनः विपरीतनि परेषां न समायरेत

जो तुम नहीं चाहते कि दूसरे तुमसे करे, वह दूसरों से न करो। भारत से शिक्षित एवं प्रभावित, प्रेरित इसी भाव को ईसा ने कहा था—Do unto others as you would to be done by तुम चाहते हो कि जैसा व्यवहार दूसरे तुमसे करे वैसा व्यवहार तुम दूसरों से करो। यद्यपि ईसाइयत ने ईसा के बाद सदा इसके विपरीत व्यवहार सर्वत्र किया है और आज भी कर रहे हैं चाहे उनका इतिहास विश्व के संदर्भ में देख लेवें, चाहे भारत के संदर्भ में। फिर इसका दार्शनिक आधार भी बाईबिल में उपलब्ध नहीं है, न उनके जीवन व्यवस्था में उसका कोई स्थान, है। यह तो केवल वेदान्त के पास है। इसका दार्शनिक आधार तो केवल वेदान्त के पास है। भारतीयों की जीवन रचना में उसका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

विश्व में एकमात्र देश है भारत जिसने अपने इतिहास के विभिन्न चरणों में कभी भी न तो किसी देश की स्वतंत्रता पर डाका डाला, न अर्थ पर, न धर्म पर, न सांस्कृतिक जीवन को तहस-नहस किया और न अर्थ सहायता या सैनिक सहायता के माध्यम से किसी भी देश का किसी भी प्रकार का शोषण किया है। हमने तो धर्म और दर्शन का दान, कला-कौशल का, सभ्यता और संस्कृति का ज्ञान दिया। विज्ञान को, निष्काम भाव से, विश्व मंगल के भाव से अपने निष्कलंक चरित्र और निर्मल ज्ञान के द्वारा उपयोग करने का ज्ञान दिया। हमने तो अपनी श्रेष्ठताओं का दान दिया, सारे विश्व को अपना परिवार मानकर। हमारा व्यवहार '**मम देशो भुवन त्रयम**', '**वसुधैव कुटुम्बकम्**' का रहा है।

इसके बदले में सारा विश्व आज हमें क्या दे रहा है? आग, आतंक, शोषण, मादक वस्तुएं दे रहा है इस्लाम के, ईसाइयत के, मार्क्सवाद और भौतिकवाद के संस्कार और शिक्षा के बल पर।

जे. कृष्ण मूर्ति आज के युग के महान् विचारक हैं। उनका कहना है कि हमारा सारा ज्ञान उधार का है, Conditioning का है। हम हिन्दू इसलिए हैं कि हिन्दू घर में उत्पन्न हुए हैं, उनकी शिक्षा और संस्कारों के अनुसार पले हैं, ऐसे ही हम बौद्ध हैं या जैन, मुसलमान हैं या ईसाई, शाकाहारी हैं या मांसाहारी इसलिए हैं कि तद्-तद् शिक्षा संस्कारों और परिवेश में पले हैं। अतः हमारा सारा ज्ञान उधार का है, यथार्थ या वास्तविकता का नहीं है।

एक हद तक यह कथन सत्य है पर सर्वांग में नहीं, विशेष कर हिन्दू धर्म के संदर्भ में।

हमारा जन्म ही Conditioning को लेकर होता है। अगर आपने कण्डीशिनिंग (प्रतिबन्धन) नहीं रखा तो उसका विकास एक झाड़-झंखाड़ जैसा हो जाएगा। इसलिए कण्डीशनिंग होना चाहिए। पर ऐसी कण्डीशनिंग रखनी चाहिए, जो डिकण्डीशनिंग की ओर ले जाए। हमारी भारतीय परम्परा में ऐसी ही कण्डीशनिंग रखते थे। इस दृष्टि से मनुस्मृति का यह श्लोक बड़ा महत्त्व का है—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतत् चतुर्विधं प्राहुः साक्षात् धर्मस्य लक्षणम्।2/11।

इसमें धर्म के चार स्रोत बताए हैं—वेद, स्मृति, महापुरुषों का आचरण, और अन्तिम अपने अन्तर की आवाज। वेद, स्मृति और महापुरुषों के आचार को तो एक हद तक उधार ज्ञान कह सकते हैं पर अपने 'अन्तः की आवाज' यह उधार ज्ञान नहीं है। स्वस्य च प्रियमात्मनः—अर्थात् सत्य वह है जिसे अपनी आत्मा कहे कि यह सत्य है, यह मुझे प्रिय है, मेरी रुचि के अनुकूल है।

श्रुति, स्मृति तथा सदाचार के विषय में कहा जा सकता है कि इन तीनों का उद्‌भव स्रोत व्यक्ति स्वयं नहीं है, दूसरों की कही तथा आचरित बात इनका आधार है। परन्तु 'स्वस्य च प्रियम' अर्थात् जो बात अपने को ठीक लगे वही सत्य है, यह दूसरों का उधार नहीं है।

परन्तु इसमें भी प्रश्न हो सकता है कि अपने को ऐसी बात भी प्रिय हो सकती है जो बुरी है। अपने को प्रिय लगने वाली बात की भी शास्त्रों में व्याख्या है। अपने को प्रिय लगने वाली बात की व्याख्या है—**आत्मनः विपरीतानि परेषां न समाचरेत्,** जो तुम नहीं चाहते कि दूसरे तुमसे करें वह दूसरों से न करो।

यह वचन वृहस्पति स्मृति में भी है, महाभारत में भी है, भारत से शिक्षा ग्रहण करने वाले ईसा ने भी कहा, पर उनके यहां व्यवहार में कभी न रही।

कोई दुराचारी भी नहीं चाहता कि उसकी बहन-बेटी को कोई छेड़े। कोई चोर भी नहीं चाहता है उसके घर में कोई चोरी करे, कोई धोखेबाज भी नहीं चाहता कोई उसके साथ धोखा करे। चोरों, डकैतों के गिरोह के सदस्य भी परस्पर में सदाचरण करते हैं।

गीता में जितने भी योगों का प्रतिपादन हुआ है उसका एक ही तात्पर्य है अन्तःकरण की शुद्धि हो जिससे हम अन्तः की आवाज पहचान सके। अपने अन्तर या आत्मा में दूसरों को, दूसरों में स्वयं को देख सकें। हम परम स्वतंत्र हो सकें। अभी तो हम शरीर इन्द्रिय, मन-बुद्धि से बन्धे हुए हैं, धीरे-धीरे इससे ऊपर उठ सकें, इनके बन्धन से मुक्त हो अपने अन्तर में और सबके अन्तर में प्रवेश कर सकें। इसी दृष्टि से हमारा व्यक्ति जीवन का गठन, समाज जीवन का गठन किया गया था।

फिर एक और आधार है जिसके आधार पर हम हिन्दू धर्म को उधार धर्म नहीं कह सकते। विश्व में बहुत से ऐसे मनीषी हुए हैं जो परम्परागत रूप से ईसाई थे, मार्क्सवादी थे। इनके प्रति मोह भंग हुआ तब वे समाधान के लिए विश्व के अन्यान्य धर्मों की ओर झुके तो उन्हें अपना समाधान हिन्दू धर्म में ही प्राप्त हुआ। इसमें हम रोम्या रोला, शोपनहावर, मैक्समूलर, कांट, थोरो, इमर्सन, क्रिस्टोफर, इशरहुड, टालस्टाय, आपेनहाइमर, विल डूरेन्ट, कोपरा आदि को ले सकते हैं। हिन्दू धर्म ही मानव धर्म या विश्वधर्म होने के योग्य है। इसके आधार पर ही सारे विश्व में एक पारिवारिक भावना विकसित हो सकती है और सारे विश्व में शांति, सौख्य, सामंजस्य का साम्राज्य स्थापित हो सकता है।

इन दोनों आधारों पर जे. कृष्ण मूर्ति की बात सही नहीं उतरती है। सभी धर्म उधार धर्म हैं और मनुष्य की चेतना को संकुचित कर देते हैं, उसको एक घेरे में, बाड़े में बान्ध देते हैं। ये बातें सैमेटिक परम्परा के संदर्भ में, मार्क्सवाद के संदर्भ में तो सही है, अन्य पंथों, उप पंथों के संदर्भ में भी सही हो सकती है पर स्वयं वैश्विक सनातन हिन्दू धर्म के संदर्भ में नहीं। काल के प्रवाह से इसमें कुछ विकृतियां, कुछ संकोच आ जाता है तो उस पर प्रहार करने वाले महापुरुषों की एक अखण्ड परम्परा पाते हैं।

तो हम देख रहे थे कि योग की सिद्धावस्था में योगी की दृष्टि सम हो जाती है। जिस प्रकार हमारी अपने अंगों के प्रति समबुद्धि होती है वैसे ही परम योगी सबको समान भाव से देखता है। जैसे मैं अपने शरीर के अंगों को छोटा-बड़ा नहीं समझता, मुझे सिर की पीड़ा दुःखी बनाती है और उसके उपचार हेतु मैं तत्पर होता हूं, वैसे ही पैर की पीड़ा को भी दूर करने के लिए सचेष्ट होता हूं। मेरे मन में सिर के प्रति श्रेष्ठ बुद्धि या पैर के प्रति कनिष्ठ बुद्धि नहीं होती। योगी भी सबके प्रति ऐसा ही समान भाव रखता है। उसे दूसरों का सुख-दुःख अपना सुख-दुःख मालूम पड़ता है। यदि कांटा चुभने से मुझे वेदना होती है, तो दूसरे को भी कांटे की चुभन पीड़ित करती हैं। अतः जैसे मैं उससे बचने की चेष्टा करता हूं, वैसे ही दूसरे को भी उससे बचाने की कोशिश करनी चाहिए, यह परम योगी का भाव होता है।

श्री रामकृष्ण देव का जीवन इस ज्ञान का प्रत्यक्ष निदर्शन है। उनका मन कभी-कभी व्यापक हो जाता था और दूसरों का दुःख उन्हें अपना मालूम होता था। एक बार हरी-हरी दूब पर किसी को बूट पहनकर चलते देख उन्हें लगा कि कोई उनकी छाती को रौंदे जा रहा है। उन्हें असह्य पीड़ा का अनुभव हुआ और उनकी छाती लाल हो गयी। इसी तरह एक दूसरे समय उन्होंने देखा कि दो व्यक्तियों में लड़ाई हो रही है और एक ने दूसरे की पीठ पर तमाचा जड़ दिया। उन्हें ऐसा लगा

कि उनकी पीठ पर अंगुलियों के निशान हैं, जैसे उन्हीं को तमाचा मारा गया हो। अब इससे बढ़कर दूसरे के दुःख को अपना दुःख मानने का उदाहरण और क्या हो सकता है?

सबको अपने समान समझने, सब में एक ही ईश्वर का वास देखने के कारण रामकृष्ण परमहंस के शब्दों में 'शिव ज्ञाने जीव सेवा' का भाव रहा है। सारे चराचर के प्रति एकात्मता का भाव रहा है। जीओ और जीने दो, खाओ और खाने दो, रहो और रहने दो का भाव रहा है। अतः भारत कभी भी किसी के त्रास का कारण नहीं बना। किसी की उपेक्षा नहीं की।

जब तक द्वैत बुद्धि, गैर बुद्धि है तभी तक दूसरे के प्रति शोषण बुद्धि, अत्याचार बुद्धि होती है, लूटने-खसौटने की बुद्धि होती है। जब सबमें अपने-आपको देखने लगता है तब किसको लूटे, किस पर अत्याचार करे क्योंकि कोई पराया है ही नहीं। अपने-आपको लूटने की प्रवृत्ति किसी की नहीं होती।

पतंजलि योग दर्शन का योगी समाधि में डूब जाता है, पर गीता का योगी समाधि में डूबा हुआ बैठा नहीं रहता, अपितु देश और काल में सर्वत्र व्यवहार करता हुआ, सबके प्रति आत्मबुद्धि के कारण समान भाव रखता हुआ, दूसरों के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख मानता हुआ, उनके दुःखों के मोचन में तथा उनमें अपने सुख के वितरण में निरन्तर लगा रहता है। उसका व्यवहार ऐसा होता है जिससे सबको सुख मिले, दुःख किसी को न मिले।

आप दूसरों के सुख में सुखी, दूसरों के दुःख में दुःखी हो। दूसरों के सुख में सुखी हो—क्या आसक्त हो जाएं? क्या मोहाबद्ध हो जाएं? जैसे दूसरे लोग आसक्त होकर सुख प्राप्त करते हैं क्या हम भी वैसे सुखी हो जाएं? भीतर से अनासक्त होते हुए, असंग रहते हुए अन्य से व्यवहार करना है।

भगवान् राम के विषय में कहा गया है, वे भीतर से, स्वरूप से अनासक्त, असंग है और स्वभावतः कोमल हैं। करुणा वरुणालय हैं। स्वभाव से कोमल, करुणा-वरुणासय और स्वरूप से असंग। किसी के प्रति आसक्त न होते हुए भी सबों के दुःख से दुःखी होते हैं। जटायु की धूल अपने जटाओं से झाड़ा था।

इसी तरह कृष्ण सुदामा की पीड़ा से पीड़ित हो गए, भीतर असंग रहते हुए, अनासक्त होते हुए।

हमारे दुःख से अगर रामजी दुःखी न हो तो आप रामजी को क्यों भजेंगे? रामजी स्वभाव से करुणा-वरुणा हैं, कोमल हैं और स्वरूप से असंग हैं। रामजी का वर्णन करते हुए वाल्मीकिजी ने कहा है कि वे प्रजा के दुःख से दुःखी होते थे। प्रजा के सुख से सुखी होते थे।

वैसे ही परमयोगी कौन है? भगवान् से एकत्व का अनुभव करते हुए भी जो अपने सहयोगियों के, अपने सहवर्तियों के, समस्त मानव मात्र, प्राणीमात्र के सुख से सुखी, दुःख से दुःखी होता है। भीतर असंग रहते हुए, लेकिन बाहर से, सुख से सुखी, दुःख से दुःखी होता है। बाहर से किसी को दुःख नहीं पहुंचाता। सबों को सुखी करना चाहता है। सभी को उन्नति की ओर ले जाना चाहता है, सबको सही रास्ता बताता है। गीता का परम योगी सबके साथ जीता है, सबके मंगल के लिए जीता है। केवल अकेला ध्यान लगाकर नहीं जीता।

29, 30, 31, 32 इन चार श्लोकों को विनोबा भावे ने साम्य-योग नाम दिया है। **समत्वं योग उच्यते**—गीता में समत्व को, साम्य को योग कहा गया है। गीता के चार श्लोकों में गीता का सार सर्वस्व आ जाता है। ऐसा विनोबाजी भावे का कथन है।

साम्यवाद आना है तो गीता के आधार पर ही आ सकता है, मार्क्सवाद या भौतिकवाद के आधार पर कभी नहीं। साम्यवाद आता है साम्यबोध से। साम्यबोध होता है अपनी चेतना के विस्तार से, आत्मीयता के विस्तार से। चेतना के विस्तार के लिए धर्म को, नैतिकता को, सदाचार को, कर्म के सिद्धान्त को, सृष्टि के नियामक न्यायतंत्र को, ईश्वर को न्याय कर्ता के रूप में, कर्म फल दाता के रूप में, अभिभावक के रूप में, गुरु के रूप में स्वीकारना आवश्यक है। पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकारना आवश्यक है। इसके अभाव में नैतिकता का विकास, सद्गुणों का विकास, चेतना का विस्तार, आत्मीयता का विस्तार नहीं हो सकता। अतः साम्यवाद भी एक मधुर कल्पना मात्र रह जाता है।

परिवार तक हमारी चेतना का विस्तार रहता है, अतः वहां साम्यवाद भी दृष्टिगोचर होता है। जब अपनी योग्यतानुसार सेवा देते हैं, आवश्यकतानुसार योग-क्षेम प्राप्त करते हैं।

संन्यासी की चेतना विस्तृत होने से उसके जीवन में भी साम्यवाद की झलक मिलती है। संन्यासी के सारे क्रिया-कलाप सर्वजन सुखाय होते हैं।

अतः साम्यवाद आध्यात्मिक यानी आत्मा के आधार पर ही आ सकता है, भौतिकता के आधार पर कभी नहीं। इसलिए साम्यवाद स्वयं अपने घर में ही ढह गया। अतः गीता के इन चार श्लोकों के आधार पर ही साम्यवाद की प्रतिष्ठा हो सकती है।

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्-त्वया प्रोक्तः, साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि, चञ्चलत्वात् स्थितिं स्थिराम्॥6/33॥

अर्जुन बोला—हे मधुसूदन! आपने जो यह समत्व रूप योग कहा है, मन की चंचलता के कारण मुझे इसकी स्थिर स्थिति नहीं दिखती है।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण, प्रमाथि बलवद्-दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये, वायोरिव सुदुष्करम्॥6/34॥

क्योंकि हे कृष्ण! (यह) मन बड़ा चंचल, प्रमथन स्वभाव वाला, बड़ा दृढ़ (और) बलवान है। (अतः) उसको वश में करना मैं वायु को रोकने की भांति अत्यन्त कठिन मानता हूं।

वह अर्जुन, जो अपने तीर को चिड़िया की आंख के मध्य में लगा सकता है, घूमती हुई मछली का भेदन कर सकता है, शब्द-भेदी बाण चलाना जानता है, अब उस ब्रह्म में अपने मन को लगा पाने में कठिनाई का अनुभव कर रहा है।

अब प्रश्न है मन क्या है?

मन एक माना हुआ मैं है। वास्तविक मैं को भूलकर मनुष्य जब दुःखों से उद्विग्न होने वाले और सुखों की स्पृहा करने वाले, कामना की केलि, तृष्णा की तृषा और अविद्या के अंधकार में लीन रहने वाले अपने तुच्छ और घटिया स्वरूप को ही मैं मान लेता है तो उसकी मान्यता को ही मन कहा जाता है। जो वास्तव में नहीं है पर मान लिया गया है, वह मन है।

जब तक माना हुआ मन है, विषयी मन है, तब तक वह चंचल बना रहता है। उसके चंचलता की उपमा पताका से, मीन से और बन्दर से दी जाती है।

पताका—भगवान् शंकराचार्य ने मन की उपमा एक ऊंचे पर्वतशिखर पर बने हुए मन्दिर के सर्वोच्च शिखर पर लगी हुई पताका से दी है जो दसों दिशाओं की 49 पवनों के थपेड़ों से निरन्तर हिलती ही रहती है। भारतीय साहित्य परम्परा में मन को मीन कहा गया है। जैसे मछली जल में निरन्तर हिलती ही रहती है वह स्थिर नहीं रहती इसलिए मन को मकर (मीन) और मन के देवता मनोज (कामदेव) को मकरध्वज या मीनकेतु कहा गया है।

एक तो पताका का स्वभाव निरन्तर हिलने का ही है, तिस पर मछली कभी शांत रह ही नहीं सकती। इसलिए इस उपमा में चंचलता का ही पुट चढ़ाया गया है। मछली जब शांत या स्थिर हो जाए तब समझना चाहिए कि मछली मर गई। इस प्रकार जब चंचल मन मर जाता है तब योगसमाधि लाभ करता है।

बंदर—मन की तीसरी उपमा चंचल बंदर से दी जाती है। बंदर भी बहुत चंचल एवं सदा अस्थिर-सा रहता है। कुछ न कुछ हिलने-डुलने व करने में सदा लगा रहता है। जब कोई कार्य न हो तब भी खेल, उत्पात करता रहता है। कबीर ने कहा है—

बाजीगर का बांदरा, ऐसा जीव मन साथ।
नाना नाच दिखाय कर, राखे अपने हाथ॥

जीव के साथ उसका मन बाजीगर के बंदर के समान है। कलंदर बंदर को बांधकर स्थान-स्थान पर नाच नचाने के लिए ले जाता है, किन्तु बंदर के साथ कलंदर को भी जगह-जगह भटकना पड़ता है। बंदर के नाच के साथ-साथ कलंदर को आधा खेल स्वयं खेलना पड़ता है। वह उसका प्रशिक्षक भी है और खेल का साथी भी। जहां बंदर वहां कलंदर। जहां मन तहां जीव। इसलिए विचार कर देखने पर प्रतीत होता है कि कलंदर ने बंदर को क्या बांधा है, बंदर ने ही कलंदर को बांध रखा है। मन ही जीव को 84 लाख योनियों में नचाकर फिर भी डोरी अपने हाथ रखता है। जीवन के नाश और पुनर्जन्म की डोरी मन के ही हाथ में है।

सूरदासजी कहते हैं—

अब मैं नाच्यौ बहुत गोपाल।
तृष्णा नाद करत घट भीतर नाना विधि दे ताल॥

जब मन की तृष्णा या कामना शांत हो जाती है तब मन का उत्पात समाप्त हो जाता है। तभी स्थितप्रज्ञ को आत्मानन्द का अमृत मिलता है। जब तक कामना तब तक मन रूपी बंदर का उत्पात, तब तक जन्म-जन्मान्तर में नाच। तृष्णा के क्षय में ही जीवन्मुक्ति, निर्वाण है।

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता अध्यात्म का एक महान्‌ ग्रंथ माना जाता है। अध्यात्म की स्थापना जितने सुन्दर व मनोवैज्ञानिक ढंग से श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में की गई है उतनी सम्भवत: किसी अन्य अध्यात्म ग्रंथ में नहीं मिलेगी। वैसे तो बिना मनोविज्ञान के आधार के अध्यात्म की भित्ति खड़ी भी नहीं हो सकती, किन्तु श्रीगीता वार्तालाप शैली का अध्यात्म ग्रंथ होने के कारण अर्जुन के मन के अथवा मानव मन के सभी मानसिक प्रश्न एवं मनोवैज्ञानिक संदेह सीधे ही ज्ञानस्वरूप-सर्वान्तर्यामी गुरु के सामने प्रस्तुत हो जाते हैं तथा उनका सर्वश्रेष्ठ समाधान भी प्राप्त हो जाता है।

चित्त बहुत चंचल है। जैसे समुद्र में निरन्तर लहरें उठती रहती हैं उसी प्रकार चित्त के सरोवर में संकल्प-विकल्प की लहरें निरन्तर चलती रहती है। संकल्प एक विधायक मानसिक कल्पना है कि मुझे यह काम करना चाहिए। विकल्प एक नकारात्मक कल्पना है कि यह काम नहीं करना चाहिए। जैसे समुद्र की लहर आगे-पीछे निरन्तर चलती रहती है, उसी प्रकार संकल्प-विकल्प की लहरें भी मनुष्य को आगे-पीछे नचाती रहती हैं। चित्त की इस चंचलता के कारण ही चित्त में शान्ति नहीं रहती है। इस प्रकार चित्त की बहुत बड़ी शक्ति परस्पर करने न करने के संकल्प-विकल्प के घात-प्रतिघात में नष्ट हो जाती है। चित्त जब कुछ कामना करता है, जब वह विषयों की ओर भागता है तो इससे भी उसकी शक्ति निम्न विषयों में

व्यर्थ होती है। ऐसे चित्त को जीवन के उच्च मूल्यों या आदर्शों के लिए समय और शक्ति दोनों की कमी अनुभव होती है। यदि किसी मकान में नीचे के छत में नल खुले हों तो ऊपर की छत पर पानी बहुत कम चढ़ता है, नीचे का नल बंद करने पर ही ऊपर पानी चढ़ सकता है। इसी प्रकार चित्त की शक्ति यदि घटिया विषयों की ओर लगी रहे तो उच्च आदर्शों के लिए शक्ति ही नहीं बचेगी। योग द्वारा मन की घटिया वृत्तियों को रोक दिया जाता है। संयम और इन्द्रिय निग्रह द्वारा मन की शक्तियों को ऊर्ध्वमुखी बनाया जाता है। जो वीर्य प्राय: नीचे की ओर पतित होता है संयम के द्वारा वह ऊपर उठता है और मनुष्य ऊर्ध्वरेतस बनता है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि—इस अष्टांग योग द्वारा मन की शक्तियां विकसित होते-होते, समाधिवस्था में आकर, व्यष्टि अहम् का समष्टि अहं में लय हो जाता है। उस समय वह अलौकिक सुख एवं अपार आनन्द का अनुभव करता है। उस समय व्यक्ति में अहं नहीं बचने के कारण संकल्प-विकल्प रुक जाते हैं। मन अन्तर्मुखी होकर अन्दर की निधियों को पाता है।

असंयमी व्यक्ति का चित्त उसके नियंत्रण में न रहने के कारण उसकी वृत्तियां निरन्तर परस्पर एक-दूसरे के विपरीत संघर्ष करती हैं। उसके मन की शक्ति व्यर्थ में क्षय होती रहती है। अत: वह कोई महान् कार्य नहीं कर सकता। जिस प्रकार सूर्य की रश्मियां सामान्य अवस्था में धरती की वस्तुओं को नहीं जला सकतीं, किन्तु आरसी शीशे से केन्द्रित हो जाने पर उसका तेज और ओज एक बिन्दु पर केन्द्रित हो जाता है और वह वस्तुओं को जलाने में समर्थ हो जाती हैं। मानसिक एकाग्रता, वृत्तियों का नियंत्रण, एक लक्ष्य पर ऐकान्तिक ध्यान एक बहुत बड़ी चमत्कारी शक्ति पैदा कर देता है जिससे ज्ञान भी बहुत सुस्पष्ट हो जाता है और कर्म भी बहुत ऊर्जस्वी बन जाते हैं। इसी कारण योगी जो अपनी इच्छाशक्ति से अपने मन की वृत्तियों को रोक सकता है, नियंत्रित कर सकता है और वांछित बिन्दु पर लगा सकता है वह किसी अन्य व्यक्ति की अपेक्षा बहुत अधिक चमत्कारी ढंग से ज्ञान-विज्ञान का रहस्य जान लेता है, अदृश्य और दूरस्थ घटनाओं को जान लेता है, दूरदर्शन कर लेता है और दूरश्रवण में भी समर्थ बन जाता है। वह दूसरों के मन में झांक कर उनके मन के गुप्त रहस्यों तक को जान लेता है और काल के पर्दे को चीरकर भूत, भविष्य और वर्तमान को सुस्पष्ट देखकर त्रिकालदर्शी बन जाता है। उसके कर्म में विलक्षण शक्ति आ जाती है जिसे देखकर सामान्य लोग सिद्धियों का चमत्कार कहकर आश्चर्यचकित हो ठगे से रह जाते हैं। योगी का ज्ञान असाधारण बन जाता है। उसका कर्म चमत्कारी बन जाता है तथा उसकी दूरसंचार शक्ति, अन्य के मन को अन्त:ज्ञान से पहचान लेने, प्रेरित करने की शक्ति इतनी विकसित हो जाती है कि योगी भगवान् की एक दिव्य विभूति बन जाता है। उसका

व्यष्टि अहं समष्टि अहम् में लय हो जाता है। जैसे सर्वान्तर्यामी भगवान् अनायास ही सब कुछ जानते हैं और अनायास ही सब कर्म कर या करवा रहे हैं, उसी प्रकार योगी सर्वज्ञाता एवं सर्वसमर्थ बन जाता है। ऐसी अवस्था को प्राप्त करने के लिए अष्टांग योग की क्रमिक सीढ़ियां हैं। योगी का सच्चा स्वरूप उसके योगसिद्ध होने पर ही प्रकट होता है। चंचल एवं उत्पाती मन को शांत एवं मौन करना एक बहुत बड़ी बहादुरी का खेल है जिसे साधारण दुर्बल मन कर ही नहीं सकता।

इस प्रकार मन में अपार शक्ति छिपी हुई है। उसमें असीम सम्भावनाएं निहित हैं पर उसका हमें पता नहीं है, उसमें हमारा प्रवेश नहीं है। हम अपनी शक्ति का 8-10% ही उपयोग कर पाते हैं। 90% सुप्त ही पड़ी रहती है। हमारा मन हजारों चीजों में बिखरा हुआ, बहुकाग्र बना हुआ है। इसलिए साधारण मनुष्य उस अपार शक्ति का कुछ भी सदुपयोग नहीं कर पाता वरन् वह मन के तूफानों से स्वयं तबाह होता रहता है। जिस प्रकार प्रतिवर्ष सतलुज नदी की बाढ़ से फिरोजपुर तथा पंजाब के कई जिले बाढ़ में डूब जाते, मनुष्य और पशु मर जाते, भवन गिर जाते, खेती उजड़ जाती, कारखाने बर्बाद हो जाते, वहां सतलुज पर भाखड़ा डेम बांध देने से बाढ़ की विनाशकारी लीला रुक गई, जन-धन की हानि समाप्त हो गई। इसके साथ ही विद्युत् का बहुत बड़ा भण्डार प्राप्त हो गया जिससे उत्तर भारत जगमगा उठा, कल-कारखानों में उत्पादन बढ़ गया और सारे क्षेत्र में अविश्वसनीय प्रगति हो गई। सतलुज के जल को बांध में बांधना उसकी विनाशकारी जलराशि को विश्वमंगलकारी बनाना है। अनियंत्रित मन को नियंत्रित करना अपने सर्वनाश के स्थान पर अपना सर्वांगीण विकास करना है।

चित्तवृत्तिनिरोध का अर्थ चित्तवृत्ति को नियंत्रित करना है। विद्युत् के नियंत्रण का अर्थ यह नहीं कि विद्युत् की धारा को बंद कर देना, वरन् वे कहते हैं कि विद्युत्धारा को वश में रखना और आवश्यकतानुसार उसको खोलना और बंद करना ताकि विद्युत् का वृथा नाश न होता रहे।

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो, मनो दुर्-निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय, वैराग्येण च गृह्यते॥6/35॥

हे महाबाहो! निःसन्देह मन चंचल है, इसका निग्रह अति कठिन है, परन्तु असम्भव नहीं है। हे कौन्तेय! अभ्यास और वैराग्य से निग्रह सम्भव है।

यहां भगवान् अर्जुन के कथन को स्वीकारते हुए कहते है कि तुम ठीक कह रहे हो। यह मन अतिशय चंचल है और दुर्जय है पर दुर्जय मन को अभ्यास और वैराग्य के द्वारा वश में लाया जा सकता है।

पश्चिम के मनोवैज्ञानिक कहते हैं मन को वश में नहीं किया जा सकता है, काम से मुक्त नहीं हुआ जा सकता है। यहीं से पश्चिम में सड़न प्रारम्भ हो गई। यहीं से पश्चिम बीमार हो गया। पिछले सौ सालों से आधुनिक शिक्षा के नाम से हर आदमी के मन में इतनी गहरी बैठा दी गई कि मन को, काम आदि विकारों को है वश में नहीं किया जा सकता और इनको खुली छूट मिलनी चाहिए, यदि मानव को स्वस्थ रखना है, मनोरोग से ग्रसित नहीं होने देना है तो। इस संदर्भ में वहां की युवा पीढ़ी को अपराध बोध से एवं स्वयं के दायित्व बोध से मुक्त सा कर दिया है, जिसका दुष्परिणाम पश्चिम को भोगना पड़ रहा है और यह हवा विश्व के अन्य देशों में भी फैल रही है।

इसलिए आन्द्रे मालरो ने लिखा है, 'पिछली अर्धशताब्दी से मनोविज्ञान मानव में शैतान की प्रतिष्ठा करने के लिए लगातार कोशिश करता रहा है। मेरा विश्वास है कि अगले पचास वर्षों में वह मानव के भीतर पुनः देवताओं की प्रतिष्ठा के लिए प्रयत्नशील होगा।'

लेकिन भारत का, पूरब का कहना है, 'मन को वश में किया जा सकता है, काम से मुक्त हुआ जा सकता है।' देर-सवेर पश्चिम को भारत से इस सूत्र को पुनः सीखना ही पड़ेगा। अन्यथा पश्चिम अपनी ही ना समझी में दबकर मर जाएगा।

मैत्र्युपनिषद् कहता है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासंगि मोक्षे निर्विषयं स्मृतम्॥6/34॥

'मन ही मनुष्य के बन्धन और मोक्ष दोनों का कारण है। जब वह इन्द्रियों से जुड़ कर विषयों में आसक्त होता है, तब बन्धन का हेतु बनता है और जब निर्विषय हो जाता है, तब मोक्ष का।' इस मुक्ति की अवस्था का वर्णन करते हुए 'मुण्डकोपनिषद्' कहता है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥2/2/8॥

'उस परमात्मतत्त्व (परावर ब्रह्म) का साक्षात्कार कर लेने पर इस जीव की हृदयग्रन्थि छूट जाती है, सारे संशय नष्ट हो जाते हैं और इसके कर्म क्षीण हो जाते हैं।'

मन ही बंधन का कारण है और मन ही मुक्ति का कारण है। मन के बन्धन से मुक्त होने के लिए मन का निरीक्षण करना पड़ेगा, कैसे यह जाग्रत् में व्यवहार करता है, कैसे यह इन्द्रियों से जुड़ा रहता है, कैसे वह स्वप्न में एक सृष्टि की रचना करता और कैसे गहरी नींद में जाकर अव्यक्त में लीन हो जाता है। जागृत,

स्वप्न, सुषुप्ति और बचपन से लेकर आज तक मन किस प्रकार से बीज की तरह अंकुराता है, धीरे-धीरे बढ़ता है, फैलता है और फिर धीरे-धीरे संकुचित होने लगता है, पुनः बीज बनने लगता है। मन के इस स्वभाव को समझ करके ही सत्कर्म के द्वारा, ईश्वर की अराधना के द्वारा, अभ्यास और वैराग्य के द्वारा इसको शान्त किया जा सकता है। गहरी प्रशान्ति के अन्दर इसको ले जाया जा सकता है। मन का शान्त रहना उसका स्वयं का स्वभाव है। अशान्त रहना मन के अन्दर आगन्तुक भाव है अतः इसे दूर किया जा सकता है। अगर स्वभाव से चंचल होता तो उसका निग्रह सम्भव नहीं होता। स्वभाव तो 'स्व'-भाव है, अपना स्वरूप है, उसका निग्रह कैसा? अतः चंचलता मन का स्वभाव नहीं है, मन का स्वभाव स्थिरता है। संसार की वासनाओं के कारण ये चंचल दिखाई देता है। ज्योंही वासनाओं को छोड़ता है त्योंही यह अपने स्थिर स्वभाव में आ जाता है।

जीव अनन्त पथ का यात्री है। असंख्य जन्मों से बहता-बहता यहां तक आया है, इसलिए मन अनेक प्रकार की वासनाओं से युक्त होता है। जब तक मन में मलिन वासनायें रहती हैं तब तक मन अशान्त रहेगा, चंचल रहेगा। इन मलिनताओं को हटाने लिए सत प्रयास आवश्यक है। मलिनता कितनी गहराई तक गयी है, उसके अनुसार ही उसको हटाने के प्रयास भी उतने गहरे होने चाहिए। अब ऊपर कोई आवरण आ गया, कोई मैल आ गया तो उसको रगड़कर साफ करते हैं, परन्तु उसके जर्रे-जर्रे के अन्दर बैठ गया है तो उसके प्रयास की प्रक्रिया उतनी ही गहरी हो जाएगी, कठिन हो जाएगी।

इस दुर्जय मन को अभ्यास और वैराग्य द्वारा वश में किया जा सकता है। अभ्यास और वैराग्य द्वारा मन को वश में करने का उपाय बड़ा मनोवैज्ञानिक है। अभ्यास और वैराग्य दोनों एक-दूसरे के सहयोगी तथा पूरक एवं आवश्यक हैं, जैसे पक्षी दोनों पर से उड़ सकता है, एक से नहीं। वैराग्य द्वारा मन के कुसंस्कारों के झाड़-झंखाड़ को उखाड़कर मन का शोधन किया जाता है। काल के प्रवाह से झाड़-झंखाड़, कचरा आ गया है उसको वैराग्य द्वारा हटाया जाता है और अभ्यास द्वारा मन को अच्छे संस्कारों की पुट (भावना) देकर मन का रंजन किया जाता है। मैल छुड़ाना वैराग्य है और अच्छा रंग चढ़ाना अभ्यास या रंजन है। रजक दो काम करता है धोने का और रंगने का। संस्कार भी मन को धोता है और अच्छा रंग चढ़ाता है।

मन का मार्जन और रंजन दोनों संस्कार द्वारा सम्पन्न होते हैं। पशु प्रवृत्तियों से मुक्त होना मार्जन है, (वैराग्य है) और मन का अच्छे भाव के रंग में रंग जाना रंजन है (अभ्यास है)।

आजकल लोग मन की काम, क्रोध, लोभ आदि पाशविक प्रवृत्तियों की तृप्ति को ही मनोरंजन कहते रहते हैं। यह मनोरंजन शब्द का बड़ा ही गलत एवं विचित्र

प्रयोग है। मन पशु प्रवृत्तियों में पहले ही रंगा हुआ है। 84 लाख योनियों में वह पहले ही इन प्रवृत्तियों का अभ्यासी बना हुआ है। अतः मानव योनि में भी उसी रंग में रंगना अर्थ हीन मनोरंजन होगा। मनुष्य रजक के पास कपड़ा इसलिए देता है उसकी मैल छूट जाए अथवा उस पर सुन्दर रंग चढ़कर उसे पहले से अधिक मनोरम बना दिया जाए। पीले कपड़े को पीले ही रंग में रंगने के लिए रजक के पास भेजना मूर्खता ही होगी और वस्त्र को सफाई के बजाय गंदा करने के लिए रजक को देना भी समान रूप से मूर्खता की कोटि में गिना जाएगा। संस्कार मन को पशु योनियों की मैल से मुक्त भी करता है और देवतुल्य महापुरुषों के जीवन के रंग में रंग देता है।

मन को पशु प्रवृत्तियों की विकृति से बचाना वैराग्य है और मन को मातृ भक्ति, पितृ-भक्ति, गुरु-भक्ति, देश-भक्ति, देव-भक्ति में रंगना अभ्यास है। जब किसी भाव को प्रकर्ष के साथ प्रचुर मात्रा में मन पर चढ़ाया जाता है तो मन उससे प्रभावित होकर उसी भाव का रूप बन जाता है।

यदि एक उत्तम जाति के आम की गुठली लेकर उसे एक प्याले में सौंफ का अर्क डालकर भिगो दिया जाए तो कुछ दिनों में गुठली उस अर्क को पी जाएगी। पुनः प्याले में सौंफ का अर्क भर देने पर वह पुनः पी जाएगी। इस प्रकार 6-7 बार सौंफ का अर्क की भावना देने के पश्चात् उस गुठली को किसी अच्छी जमीन में लगा दिया जाए और उसे उचित रूप में खाद पानी सुरक्षा दी जाए तो 10-12 साल बाद उस वृक्ष में जो सैकड़ों फल लगेंगे, उनमें से प्रत्येक में सौंफ की सुगंध होगी। उन सैकड़ों बीजों को बोने से हजारों फल होंगे जिनमें पुनः सौंफ की सुगंध होगी। सैकड़ों से हजारों, हजारों से लाखों और लाखों से करोड़ों फल होंगे जिनमें सौंफ की सुगंध होगी। इस प्रकार एक बीज को संस्कारित करने से करोड़ों फल सुगंधित हो जाएंगे। इसी के समान यदि एक आदर्श गृहस्थ में एक सुपुत्र को विधिवत संस्कारित किया जाए तो उसके प्रभाव से लाखों करोड़ों के जीवन में परिवर्तन आकर नया इतिहास निर्माण हो सकता है। जीजाबाई ने एक शिवाजी का निर्माण किया तो इतिहास पलट गया। भुवनेश्वरी देवी ने एक विवेकानन्द को तैयार किया तो उसके द्वारा हिन्दू धर्म के नवोत्थान का युग प्रारम्भ हो गया।

मन का स्वभाव है कि उस पर संगत की रंगत अवश्य चढ़ती है। कुसंग से मन कुसंस्कारी हो जाता है और सत्संग द्वारा पवित्र संस्कारी बन जाता है।

सत्संगत्वम निसंगत्वम निसंगते निर्मल चित्तम्।

अर्थात् सत्संग के द्वारा मन का जगत् के प्रति निःसंग (वैराग्य) हो जाता है और जगत् के प्रति वैराग्य ही चित्त को निर्मल कर देता है।

गोस्वामी तुलसीदास ने सत्संग की महिमा में कहा है—

एक घड़ी आधी घड़ी आधी से पुनि आध।
तुलसी संगत साधु की हरे कोटि अपराध॥

प्रायः सभी संतों ने सत्संग की महिमा गाई है।

मन चंचल है पर रसिक भी बहुत है। जब इसको अभीष्ट रस की प्राप्ति होती है तो चंचलता का त्यागकर देता है। मन और मधुप का स्वभाव एक सा है, मधुप का अर्थ है भौरा। भौरा बहुत चंचल है, परन्तु जब उसे अभीष्ट मकरन्द से युक्त पुष्प की प्राप्ति हो जाती है तो चंचलता का परित्याग करके उस पुष्प के पराग और मकरन्द का ही आस्वादन करता रहता है। इसी प्रकार मन को रसार्णव भगवान् का सान्निध्य सुलभ हो जाता है तो भगवत स्वरूप में मनोवृत्ति रम जाती है, मन तनिक भी चंचलता का परिचय नहीं देता। रसिक है मन और भगवान् रसस्वरूप हैं। अतः जिसको योगाभ्यास का चस्का लग जाए, भगवान् की भक्ति का चस्का लग जाए, तो मन चंचलता छोड़कर उसी में रम जाता है। भगवान् के लिए मचलन, तड़पन, विरह उत्पन्न हो जाता है, भगवान् कोई न कोई ऐसी झांकी दे देते हैं जिसके बल पर उसका पूरा जीवन सध जाता है।

नारदजी के पूर्व जन्म की कथा भागवत में है। माता मर गई। पांच साल का बच्चा चल पड़ा भगवान् के नाम पर। भगवान् को माता-पिता समझकर बैठ गए। भगवान् के स्वरूप का चिंतन करने लगे पीपल वृक्ष के नीचे। भगवान् ने सोचा देखो संत की कृपा का पात्र है। मां को सर्प ने डस लिया। अकेला है। सारे संसार से मुख मोड़कर मेरे नाम पर चल पड़ा है। अब अगर इसके चित्त का हरण संसार ने कर लिया तो बदनामी हमारी है।

तुलसीदासजी ने विनय पत्रिका में बहुत बढ़िया बात कही है—

मम हृदय भवन प्रभु तोरा। तहँ बसे आइ बहु चोरा॥

हृदय आपका भवन है। इसमें बहुत लुटेरे, चोर, तस्कर, काम, क्रोध, मद, मोह आकर बस गए हैं। मैं आपका पहरेदार हूं। भगवान् के मन्दिर पर, भवन पर कब्जा मत करो। ये लोग मेरा निहोरा मानते नहीं है।

मानहिं नहिं विनय निहोरा।

भगवान् कह रहे हैं मेरा घर लुट जाने दो। अरे महाराज S.P. (पुलिस अधीक्षक) के घर में चोरी हो जाए, प्रधानमंत्री के घर में चोरी हो जाए, इससे बढ़कर क्या बात है?

अपजस नहिं होइ तुम्हारा॥

हमारा घर है ही नहीं, हृदय तो आपका भवन है, मैं पहरेदार हूं, ये लुटेरे मेरी बात मानते नहीं। भगवान् का घर लुट गया, यह अपयश, आपका न हो जाए।

इसलिए सज्जनो! भगवान् के आगे गिड़गिड़ा कर प्रार्थना करें, यथा शक्ति भगवत प्राप्ति के मार्ग पर चलें तो भगवान् रीझकर ऐसी झांकी दे देंगे, जिस झांकी के बल पर सारा जीवन भगवान् के लिए समर्पित हो जाएगा। भगवान् व्यक्ति के चित्त को साधते हैं। पहले दुर्लभता का परिचय इसलिए देते हैं ताकि हमारी मचलन बढ़े। भगवान् जब व्यक्ति की मचलन देख लेते हैं तो उस व्यक्ति के चित्त को साध लेते हैं।

वैराग्य का अर्थ है, असत् को छोड़ने की ताकत। शरीर और संसार असत् है, मिथ्या है, अन्तिम सत नहीं है, फलतः स्थायी, सुख, शांति, समाधान दे नहीं सकते अतः इसको छोड़ने की ताकत वैराग्य है। आत्मा या ईश्वर या ब्रह्म ही परम सत्य है। इसको पकड़ने की, धारण करने की क्षमता अभ्यास से आती है।

वैराग्य और अभ्यास के अलावा चित्त को एकाग्र करने का तीसरा साधन है—'श्रद्धा'। गीता में कहा है **श्रद्धा-वन्तोऽन-सूयन्तो, मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः**।3/31। श्रद्धा से युक्त लोग कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं। 6/47 में कहा है—**श्रद्धा-वान् भजते यो मां, स मे युक्त-तमो मतः।** जो श्रद्धा से मेरा भजन करता है वह मेरे साथ जुड़ा हुआ है। श्रद्धा का सम्बन्ध हृदय के साथ है। भगवान् के प्रति जो अपना हृदय समर्पित कर देता है उसका चित्त एकाग्र रहता है, वह संयमी होता है और समत्व में उसकी स्थिति होती है।

असत् को छोड़ने और सत् को पकड़ने, उसमें स्थित होने के लिए श्रद्धा के साथ धैर्य पूर्वक, उत्साह के साथ सतत अभ्यास करते रहना चाहिए, क्योंकि जन्म-जन्मान्तर के संस्कार हमारे अन्दर पड़े हुए हैं वे इतनी शीघ्रता से छूटते नहीं हैं। अतः सतत श्रद्धा, धैर्य एवं उत्साह के साथ अभ्यास आवश्यक है। कितना धैर्य चाहिए, इस दृष्टि से माण्डूक्य उपनिषद् के ऊपर गौड़पद कारिका के अद्वैत प्रकरण की 41वीं कारिका में इस प्रकार का भाव व्यक्त है—

उत्सेक उदधेर्यद्व कुशाग्रेणैक विन्दुना।
मनसो निग्रहस्तद्व द्ववेदपरिखेदतः॥ मा.क.अ.प्र. 41॥

जिस प्रकार से धैर्य पूर्वक समुद्र को (समुद्र के जल को) कुशा के अग्र भाग से एक-एक बूंद करके फेंका जा सकता है, उसी तरह से समस्त खेद त्याग देने पर मन का निग्रह भी किया जा सकता है।

इस विषय में पंचतंत्र में टिटिहरी का एक बहुत सुन्दर उपाख्यान है, जिसने अपने बच्चों के समुद्र द्वारा ले लिए जाने पर समुद्र को, चाहे कितने काल में हो, अपनी चोंच से पानी निकाल-निकाल कर सुखाने का प्रण किया था। ऐसे खेद रहित निश्चय के प्रताप से समस्त पक्षियों की तथा पक्षी राज गरुडजी की सहायता प्राप्त होने पर समुद्र ने उसके बच्चे दे दिए थे।

वैराग्य कोई नई बात नहीं है। वैराग्य हम-आप सबके जीवन में स्वभाविक रूप से आता है, वस्तु विशेष, पुरुष विशेष, स्त्री विशेष के प्रति पर वस्तु मात्र, पुरुष मात्र, स्त्री मात्र के प्रति नहीं आता। वस्तु विशेष की असारता का बोध हुआ तो हम नई वस्तु की खोज शुरू कर देते हैं, एक स्त्री से वैराग्य हुआ तो हम दूसरी स्त्री की खोज शुरू कर देते हैं पर वैराग्य का अभ्यास नहीं करते। श्मशान में सभी को वैराग्य उत्पन्न होता है, पर वह क्षणिक सिद्ध होता है। इसके लिए असत् को छोड़ने और सत् को पकड़ने के लिए अभ्यास आवश्यक है।

रत्नाकर डाकू को जब देवर्षि नारद के प्रबोधन से संसार की असत्यता का, असारता का बोध हुआ और सत् वस्तु के रूप में राम नाम मंत्र प्राप्त हुआ और उसका निरन्तर श्रद्धा, धैर्य व उत्साह के साथ अभ्यास के परिणाम स्वरूप रत्नाकर डाकू से महर्षि वाल्मीकि बन गए, विश्व के आदि कवि, श्रेष्ठ कवि, त्रिकालदर्शी कवि बन गए। यह अभ्यास का प्रताप है।

राम बोला को पत्नी के प्रबोधन से संसार की असारता का बोध हुआ और फिर असत् को छोड़ने और सत् को पकड़ने के अभ्यास में लग गए तो युग प्रवर्तक गोस्वामी तुलसीदास बन गए।

भारत सेवा संघ के प्रतिष्ठाता आचार्य प्रणवानन्दजी का दृष्टान्त भी स्मरणीय है। भारत सेवा संघ के संस्थापक आचार्य स्वामी प्रणवानंदजी जब बचपन में ब्रह्मचारी विनोद के नाम से पहचाने जाते थे तभी वह श्मशान भूमि से एक खोपड़ी उठा लाये थे। उस खोपड़ी को सामने रखकर उसके ऊपर उन्होंने अपनी कई पीढ़ी के पूर्वजों की सूची टांग रखी थी। वे रोज अपने मन को यह संस्कार देते थे कि जिस प्रकार इन सब पूर्वजों के शरीर को मृत्यु खा गयी, ठीक इसी प्रकार मेरे शरीर की भी गति होगी। इससे उनके मन में देह और गेह के प्रति दृढ़ वैराग्य उत्पन्न हो गया। बिना वैराग्य के विवेक विचार उत्पन्न नहीं हो सकता।

स्वयं अर्जुन का दृष्टान्त है। भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को सम्बोधन करते हुए 'महाबाहो' कहा। यह अधिकार सम्पदा का सूचक सम्बोधन है। मन को वश में करना कठिन अवश्य है पर असम्भव नहीं, तुम्हारे लिए दुर्जेय नहीं है, तुम्हारी पकड़ के बाहर नहीं है। तुमने तो अपने मन को वश में कर रखा है।

एक बार अर्जुन भोजन कर रहा था रात्रि में। हवा के झोंके से दीपक बुझ गया। अंधकार में भी भोजन करता रहा। तो अनुभव किया कि हाथ का कौर मुंह में गया। नाक, कान, आंख में तो नहीं गया। यह तो अभ्यास का ही परिणाम है तब तो रात्रि के अंधकार में भी धनुर्विद्या का अभ्यास किया जा सकता है। तभी तो उसे गुड़ाकेश कहा जाता है, उसने निद्रा को जीत लिया था।

अभ्यास का ही परिणाम है, जब द्रोणाचार्य ने सब राजकुमारों की लक्ष्य-भेद की परीक्षा लेते हुए सबसे क्रमशः पूछा था कि वृक्ष की डाली पर बैठे पक्षी के साथ-साथ उन्हें और क्या दिख रहा है, तो वह केवल अर्जुन था जिसने कहा था कि पक्षी की आंख के सिवा मुझे और कुछ नहीं दिखता। शेष अन्य तो बहुत कुछ देख रहे थे। यह प्रदर्शित करता है कि अर्जुन कितना निग्रहवान है।

स्वर्ग में अर्जुन उर्वशी को देखता है तो एकटक देखता रह जाता है। उर्वशी भी अर्जुन से आकर्षित हो जाती है। इन्द्र की दृष्टि भी अर्जुन के इस दृश्य पर पड़ जाती है। इन्द्र ने उर्वशी को कहा—जब तुम्हारे पर अर्जुन का मन चला गया है तो उसकी सेवा में उपस्थित हों। तब अपूर्व रूपसी उर्वशी रात्रि के एकान्त में अर्जुन के पास प्रणय-निवेदन की, काम भिक्षा की याचना लेकर आती है, तब अर्जुन स्पष्ट कहता है कि आपसे हमारे पूर्वज प्रकट हुए इस भाव से मैं आपको देख रहा था। पूज्य भाव, मातृ भाव से देख रहा था। उर्वशी ने कहा स्वर्ग में कोई माता-पुत्र जैसा बन्धन नहीं है भूलोक से स्वर्गलोक पृथक् है। इस पर भी अर्जुन उर्वशी को 'माता' कहकर प्रणाम करता है। इससे उर्वशी रूष्ट होकर उसे नपुंसकता का अभिशाप दे देती है। इससे स्पष्ट है, अर्जुन कितना संयमी है। यह सब अभ्यास का, संस्कार का, विवेक का परिणाम है, नहीं तो पश्चिम में और इस्लाम में भी अपनी माता छोड़कर सभी उनकी सम्भावित पत्नियां हैं। पर भारत इसके विपरीत अपनी पत्नी को छोड़कर अन्य सब पर मातृ भाव है। यह संस्कार एवं अभ्यास तथा विचार का परिणाम है। अतः अभ्यास के द्वारा, संस्कार के द्वारा, विचार के द्वारा अशक्य कार्य भी शक्य हो जाते हैं।

लोग निरंकुश हाथी, घोड़े को अभ्यास के द्वारा किस प्रकार अपने वश में कर लेते हैं, यह तो सभी जानते हैं। सर्कस में खूंखार जानवरों को भी अभ्यास के द्वारा ही करतब सिखाए जाते हैं। अतएव मनुष्य को भी अच्छे कामों का अभ्यास करना चाहिए। कठिन से कठिन काम भी अभ्यास से आसान हो जाता है।

'योगवासिष्ठ' में एक श्लोक आता है—

जन्मकोटिचिराभ्यस्ता राम संसारवासना।

यह संसार की वासना करोड़ों जन्मों के अभ्यास से पुष्ट हुई है। अतएव इसको निर्मूल करने के लिए, वैसा ही चिरकाल तक अभ्यास करना पड़ेगा।

मनुष्य का स्वभाव है, जब कोई उसे महत वस्तु मिल जाती है, उसमें उसे रस आने लगता है तो छोटी वस्तु स्वतः ही छूट जाती है। जैसे शिशु को खिलौने से प्रेम होता है, उसके सामने खिलौने और दस हजार रुपये की गड्डी रखी जाये तो उसे खिलौने में ही रस है, रुपयों में नहीं। बालक को लट्टू, विलोर (कांच की

गोलियां) में और खेलकूद में रस आने लगता है तो उसे शैशव की गुड़ियों में रस नहीं रहता। किशोरों को पतंगों में रस आने लगता है, युवक को जीवन संगिनी में रस आने लगता है, उसे पतंग, लट्टू में कोई रस नहीं, प्रौढ़ गृहस्थों को अर्थोपार्जन में रस मिलने लगता है, वह अपनी पत्नी, अपने भोजन तथा संतानों की भी उपेक्षा करके दूर-दूर स्थानों पर विकट मार्गों में अर्थोपार्जन के लिए जाता है। जिस प्रकार बड़े रस के आने पर छोटा रस अपने आप छूट जाता है, उसी प्रकार धर्म की पुकार पर, राष्ट्र की रक्षा की पुकार पर अर्थ का आकर्षण भी छूट जाता है। भामाशाह ने जीवनभर की अपने पूर्वजों की सारी कमाई राणाप्रताप के चरणों पर चढ़ा दी। इसी प्रकार जिसे बौद्धिक कार्य, साहित्य निर्माण, कविता आदि में आनन्द आने लगता है वह अर्थ की परवाह नहीं करता। जिन्हें संगीत आदि में आनन्द आता है उनका मन सांसारिक विषयों की ओर नहीं जाता। जिसे भजन, ईश्वर में आनन्द आने लगता है उन्हें विषय रस नहीं सुहाते। गुरु नानकदेव कहते हैं—

वो रस आवा यह रस नहीं भावा।

ब्रह्मानन्द रस चख लेने के बाद विषय रस तनिक भी मन को मोहित नहीं कर सकते। अतः मन को विषय रस से मुक्त करने का सबसे श्रेष्ठ उपाय है मन को उससे श्रेष्ठ उससे ऊंचा कोई अमर रस पिला दो।

एक बार श्री रामानुजाचार्य ने श्री रङ्ग क्षेत्र में वेश्या के रूप सौन्दर्य पर आसक्त व्यक्ति को देखा। वह वेश्या के सामने उसकी ओर मुंह करके छाता लगाये हुए था और पीछे की ओर चलता था। आचार्य ने उसके ऊपर कृपा की और अपने निवास स्थान पर बुलाकर अपने आराध्यदेव के ऐसे अलौकिक सौन्दर्य के दर्शन करा दिये, जिस पर उसने अपना जीवन, अपना सर्वस्व ही न्योछावर कर दिया और प्रभु के चरणों का सेवक बन गया। आचार्यगण इसी प्रकार सामान्य मनुष्यों को ऊपर उठा देते हैं।

एक बार साधु स्थाणुदेव लीलाराम वास्वानी को कुछ विद्यार्थी शरारत से उन्हें सैर के बहाने, एक सुन्दर नर्तकी के घर ले गये तथा उन्हें बिठाकर स्वयं चम्पत हो गये। वास्वानीजी के भोले सौन्दर्य को देखकर उस वेश्या की कामाग्नि और प्रदीप्त हो उठी। वह उस चरित्रवान युवक के अति निकट बैठ गई, जिससे वह अपने इत्र लगे हुए वस्त्रों की महक से वास्वानीजी को आकर्षित कर सके, किन्तु वास्वानीजी एक मूर्ति के समान स्थिर बैठे रहे। वेश्या ने आसक्ति की वाणी में कहा, क्या मेरे अन्तर् के भवन में नहीं आयेंगे? वास्वानीजी ने कहा—मैं पहले से ही अन्तर्भवन में हूं। वेश्या ने अपने गात्रों को नग्न करते हुए कहा, क्या मैं सुन्दर नहीं हूं? वास्वानीजी ने अर्धनिमीलित नेत्रों से कहा—प्यारी बहन! जिस सौन्दर्य को तुम बार-बार दर्पण में देखकर दर्पित होती रहती हो वह हाड़-मांस का

सौन्दर्य पलभर में नष्ट हो जाने वाला है। मांस मांस को ही आकर्षित कर सकता है। मांस सदा मांस के लिए आहार बन जाता है और काम की अग्नि में भस्म हो जाता है, किन्तु एक ऐसा सौन्दर्य भी है जो कभी म्लान नहीं होता। तुम्हारे भीतर अज्ञात सौन्दर्य है उसको देखो तब तक जब तक कि तुम्हारी सारी वासनायें जल न जाये और तुम्हारा शरीर आत्मा का दिव्य मन्दिर न बन जाये। वह वेश्या इन दिव्य वचनों से अभिभूत हो गई। अपने चमकते हुए नेत्रों से वास्वानीजी ने कहा—आओ बहन! हम दोनों प्रभु का पावन नाम गायें। दोनों भजन गाने लगे। मित्र लौटकर के आए यह दृश्य देखा तो बड़े लज्जित हुए।

इसी प्रकार की कथा वासवदत्ता नर्तकी एवं उपगुप्त बुद्ध के शिष्य की है। वासवदत्ता मथुरा की नर्तकी थी जो रूप और कला, दोनों में ही अद्वितीय थी। उसे नगर के सभी पुरुष चाहते थे पर वह किसी को नहीं। एक युवा भिक्षु उपगुप्त को देखा—उस पर आकर्षित हुई, भवन में आने के लिए आमन्त्रित किया, पर भिक्षु ने कहा—अभी आपसे मिलन का समय नहीं आया है। उचित समय पर मैं आपके पास आऊंगा और आगे बढ़ गये। कालान्तर में वासवदत्ता पर एक मूर्तिकार की हत्या का मिथ्या आरोप लगा, उसकी सम्पत्ति जब्त कर उसे मथुरा से निकाल दिया। लोगों ने हत्यारिन जानकर उसको अपमानित और पत्थरों से जख्मी कर दिया। वासवदत्ता ने श्मशान में आश्रय लिया पर लोगों ने उसका वहां भी पीछा नहीं छोड़ा और उस पर थूकते, पत्थर मारते। उस समय उपगुप्त आये। वासवदत्ता ने कहा, 'जब सारा मथुरा मेरे पर न्योछावर होता था तब केवल तुमने ठुकराया था। अब मेरा शरीर घावों से जर्जर हो रहा है, सब मुझसे घृणा करते हैं, ऐसे में क्यों आये तुम?' उपगुप्त ने मुस्कुरा कर कहा, 'उस समय तुम्हें मेरी आवश्यकता नहीं थी, वासवदत्ता! अब है, चलो विहार में चलें।' उपगुप्त ले गये। उनकी सेवा-शुश्रूषा से वासवदत्ता निरोग हो गयी, पर उदास थी। मेरा रूप जाता रहा अब कोई मेरी ओर आंखें उठाकर देखेगा भी नहीं। उपगुप्त ने कहा, 'तुमने जो सौन्दर्य खोया है उससे भी बड़ा एक सौन्दर्य है। उसे तुमने जाना नहीं है, वह अन्तर् का सौन्दर्य है, जो कभी म्लान नहीं पड़ता। अपने अन्तर् का दीप जलाओ, तुम्हें शान्ति मिलेगी।' तब उसने भगवान् बुद्ध के शरणागत होकर उनका शिष्यत्व ग्रहण किया।

भगवान् महावीर मुण्डित मस्तक नगर से जा रहे थे। ऊपर से आवाज आयी अभी तो जीवन का प्रभात है। तब भगवान् महावीर ने मुंह नीचे किए हुए कहा—पता नहीं कब जीवन की संध्या आ जाए।

जीवन में जब कोई महान् लक्ष्य मिल जाता है, उसके प्रति महत्त्व बुद्धि होती है, उसके प्रति समर्पित हो जाते हैं तब उनके समक्ष विषय रस हलके पड़ जाते, छोटे हो जाते हैं, छूट जाते हैं। हम देखते हैं कि पराधीनता के काल में सैकड़ों

युवक देश के नवनिर्माण में लग गए। देश की स्वाधीनता के लिए हंसते-हंसते अपना सर्वोच्च बलिदान दे दिया। आज भी बहुत सी संस्थाएं, सैकड़ों-हजारों युवक-युवतियों ने जवानी के रंगीन सपनों को तिलांजलि देकर, अविवाहित रह कर, सामान्य जीवन जीकर देश के विभिन्न क्षेत्रों के विकास में अपने जीवन को समर्पित कर दिया है। इस प्रकार वैराग्य एवं अभ्यास के द्वारा निरंकुश मन को भी वश में कर सकते हैं, अपना पालतू बना सकते हैं।

अभ्यास-वैराग्य की परिपक्वता पूर्णता कब होती है? जब मनुष्य के हृदय मन्दिर में ईश्वर-प्रेम अंकुरित, झंकृत, प्रतिष्ठित, आलोड़ित, वन्दनित आलोकित होता है। ज्यों-ज्यों प्रेम बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों मनुष्य तृष्णा रहित होता जाता है, कामना रहित हो जाता है। प्रभु का भजन मीठा लगने लगता है। संसार का रस फीका लगने लगता है। प्रभु के भजन के समय, प्रार्थना के समय हमारी आंखों में अश्रुपात होता है, हमारा शरीर पुलकित, रोमांचित होता है। नाम जपने के समय आंखें गीली न होती हो तो समझें कि अभी जप में, भजन में प्रवेश नहीं हुआ है। गुरु अर्जुनदेव का पावन शरीर तिल-तिल करके जल रहा है तप्त तवे पर और उसी अवस्था में गुरुदेव गा रहे हैं। एक भक्त मियां मीर उनसे प्रायः पूछता रहता था कि क्या उनके 'सुखमनी' सन्देश के अनुसार कोई प्रत्यक्ष जीवन बिता सकता है? अंतिम समय में उसने देखा कि तप्त तवों पर गुरुजी का पावन देह तिल-तिल कर जल रहा है, किन्तु गुरुजी मुस्कराते हुए गा रहे हैं—

तेरा भाणा मीठा लागै, हरि नाम पदारथ नानक मांगै॥

मियां मीर अवाक् रह गया। गुरुजी ने कहा—'मियां मीर! मैं अपने प्रत्यक्ष जीवन को होम कर 'सुखमनी' पर भाष्य कर रहा हूं–तेरा भाणा मीठा लागै। हरि नाम पदारथ नानक मांगै।

असंयतात्मना योगो, दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता, शक्योऽवाप्तु-मुपायतः॥6/36॥

जो असंयतात्मा है अर्थात् जिसका चित्त संयत नहीं है उसके लिए योग दुःसाध्य (दुर्गम-कठिन) है, यह मेरा मत है, परन्तु जो वश्यात्मा है अर्थात् जिसका चित्त संयत (वशीभूत) है तथा योग सिद्धि के लिए यत्नशील (तत्पर) है उसके लिए पूर्वोक्त अभ्यास और वैराग्य रूप उपाय से यह योग सध पाना सम्भव है। इसे भगवान् निष्कर्ष रूप से बता रहे हैं।

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो, योगाच्-चलित-मानसः।
अप्राप्य योग-संसिद्धिं, कां गतिं कृष्ण गच्छति॥6/37॥

हे कृष्ण! जो योग में श्रद्धा से युक्त है किन्तु यत्नशील नहीं है और इस कारण जिसका मन योग से विचलित हो गया है, ऐसा व्यक्ति योग की पूर्ण सिद्धि को न पाकर किस गति को प्राप्त होता है?

कच्चिन्-नोभय-विभ्रष्टश्,-छिन्नाभ्र-मिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो, विमूढो ब्रह्मणः पथि॥6/38॥

हे महाबाहो, ब्रह्म मार्ग से विचलित अर्थात् जो ब्रह्म में प्रतिष्ठित नहीं हो सके तथा जो निराश्रय है, स्वर्ग और मोक्ष दोनों मार्गों से भ्रष्ट होकर वह छिन्न-भिन्न बादल की तरह नष्ट तो नहीं हो जाता?

एतन्-मे संशयं कृष्ण, छेत्तु-मर्हस्य-शेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य, छेत्ता न ह्युप-पद्यते॥6/39॥

हे कृष्ण, तुम्ही मेरे इस संदेह को पूर्णतया छेदन करने में समर्थ हो, क्योंकि तुम्हारे बिना इस सन्देह को मिटाने वाला और कोई नहीं है।

अब अजुर्न के मन में प्रश्न उठा कि उन बेचारों का क्या होगा जो अर्थोपार्जन नहीं करते। वे गृहस्थ बहुत अच्छे हैं जो थोड़ा समय भगवान् का भजन भी कर लेते हैं, थोड़ी माला भी फेर लेते हैं और व्यापार में भी हाथ मार लेते हैं, संसार के लिए भी प्रयत्न करते हैं उनकी एक गेयर फेल है तो दूसरी तैयार। अतः उनके लिए तो रोना है नहीं।

लेकिन अर्जुन ने सोचा वे बेचारे किस गति को प्राप्त होंगे जो भगवान् के नाम पर, योग के नाम पर, समाधि के नाम पर, समत्व में स्थित होने के नाम पर भोग को, बाल-बच्चे, गृहस्थी सबका परित्याग कर आए समाधि के लिए, योग निष्ठा की प्राप्ति के लिए, साम्यनिष्ठा की अभिव्यक्ति के लिए प्रयत्न करने लगे किन्तु सफलता नहीं मिली।

श्रद्धा तो मन में है। श्रद्धा में कोई आंच नहीं आई। पर वे प्रयास करते-करते हतप्रभ हो गए हैं, उत्साहहीन हो गए, शरीर में कोई रोग आ गया अथवा मन किसी कारण से उचट गया, समझ लिया हमारे बलबूते की नहीं रही यह लम्बी छलांग। गन्तव्य तक पहुंचने की आस्था तो शेष है पर शक्ति समाप्त हो गई। इस प्रकार योग से विचलित हो गये।

लोक का अभ्युदय तो पहले ही छोड़ चुका है। प्रवृत्ति मार्ग पर चलकर जो स्वभाविक प्रगति हो सकती थी उससे वंचित हो गया पहले ही। तुलसीदासजी ने प्रवृत्ति मार्ग में रहकर धर्मानुष्ठान से मोक्ष तक पहुंचने के लिए क्रमिक सीढ़ियों का बहुत सुन्दर रीति से प्रतिपादन किया है—

धर्मानुष्ठान या धर्म से विरति, विरति से योग, योग से ज्ञान की योग्यता, ज्ञान की योग्यता से तत्त्व का विचार, तत्त्व-विचार से मोक्ष। धर्म ते विरति, विरति से योग की प्राप्ति होती है, योग ते ग्याना। ज्ञान मोक्षप्रद वेद बखाना।

यह प्रवृत्ति मार्ग का जो स्वाभाविक पथ है जिसमें दान भी करते हैं, तप भी करते हैं, तीर्थाटन भी करते हैं, उपासना भी करते हुए क्रमशः अनेक सीढ़ियों को पार करता हुआ मोक्ष तक पहुंचता है।

इन सबको छोड़कर सीधे मोक्ष प्राप्ति के लिए, निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए छलांग लगाई है, पर बीच में ही शरीर असमर्थ हो गया या शरीर ने दम तोड़ दिया, या किसी कारण से भ्रष्ट हो गया, च्युत हो गया, यानी लोक तो पहले ही छोड़ चुका है, और योग साध नहीं सका। ऐसी अवस्था में दोनों मार्ग से च्युत होकर उभय भ्रष्ट तो नहीं होगा? उस बेचारे की क्या गति होगी? इसके लिए अर्जुन ने बहुत बढ़िया उदाहरण दिया है। आकाश में अन्तरिक्ष में बादल छा जाए। बादल की सार्थकता तो बरसने में है या नहीं? बादल का बनना तब तक सार्थक नहीं जब तक वह बरसे नहीं। बरसने से पहले वायु का उदय हो गया, और वायु ने, हवा ने उन बादलों को तितर-बितर करके, क्षत-विक्षत करके खत्म कर दिया। जैसे बादल बरसे बिना नष्ट हो जाते हैं तो क्या जो व्यक्ति घर गृहस्थी का परित्याग करके आपके नाम पर, समाधि के नाम पर, योग निष्ठा के नाम पर, योग सिद्धि के नाम पर विरक्त हो जाते हैं और योग निष्ठा उनको सुलभ हो नहीं पाती, श्रद्धा केवल शेष रह जाती है तो उनकी क्या गति होती है? कहते हैं दुविधा में दोनों गए माया मिली न राम, न भोग की प्राप्ति हुई और न भगवान् की। उनकी क्या स्थिति होती है, दोनों और से तो नहीं मारे जाते हैं?

योग के चरम तात्पर्य और योग मार्ग के आदि गुरु भी आप ही हैं, अतः आप ही मेरे इस संशय का पूर्णतः छेदन कर सकते हैं, समाधान कर सकते हैं। आपके सिवाय इस संशय का छेदन करने वाला दूसरा कोई नहीं है।

यह डर स्वाभाविक है। दोनों ओर से वंचित हो जाए। संसार को छोड़ने की चेष्टा कर परमात्मा को पाना है और वहां मन स्थिर न हो पाए और दोनों ओर से गए।

संसार छोड़ते समय मन में यह सवाल उठता ही है कि कहीं ऐसा न हो कि मैं संसार की तरफ वैराग्य निर्मित कर लूं, तो संसार भी छूट जाए और परमात्मा को पा न सकूं। इसी भय के कारण बहुत जनों को संसार की असारता का बोध हो जाने पर भी संसार को छोड़कर परमात्मा की ओर छलांग नहीं लगा पाते, कि कहीं ऐसा न हो जाए, सच्चा-मिथ्या जैसा भी संसार है वह भी छूट जाए और परमात्मा भी नहीं मिले। न घर का न घाट का, धोबी के गधे जैसा न हो जाऊं।

अभी कहीं तो हूं। संसार में सही अभी कुछ मेरे पास है। माना कि भ्रामक है, माना कि सपने के समान है, फिर भी है तो सही। सपना ही सही, झूठा ही सही फिर भी भरोसा तो है मेरे पास कुछ है। कोई मेरा है, पति है, पत्नी है, बेटा है, बेटी है, मित्र है, मकान है। माना कि झूठा है। कल मौत आएगी, सब छीन लेगी। लेकिन जब तक मौत नहीं आती है, तब तक है। और माना कि कल सब राख में बदल जाएगा, लेकिन जब तक नहीं गिरा तब तक तो है, तब तक तो सांत्वना है।

संसार से खूंटी तोड़ दूं और नयी खूंटी गाढ़ न पाऊँ। यह तट भी छूट जाए संसार का, उस तट की कोई खबर न हो ऐसी स्थिति तो नहीं हो जाएगी?

वस्तुतः किसी भी ऊंची स्थिति प्राप्त करने के लिए जोखिम तो उठाना ही पड़ता है। No risk no gain. मैं योग प्राप्त करूंगा, ऐसा विश्वास रखकर ही सबको आगे बढ़ना पड़ता है। जब तक यह विश्वास नहीं होता है तब तक कोई आगे नहीं बढ़ सकता। बड़े-बड़े भूल-भुलैये में पड़ जाते हैं, विश्वामित्र, महर्षि सौभरि, देवर्षि नारद जैसे फिसल गए, पर पुनः सम्भल कर सफलता प्राप्त कर ही दम लिया। ऐसे विश्वास के साथ ही आगे बढ़ना पड़ता है।

ऐसे विश्वास के साथ ही आगे बढ़े पर सफलता तक पहुंचने के पूर्व शरीर छूट गया, शरीर असमर्थ हो गया, या फिसल गया तो उसकी क्या गति होगी, इस जिज्ञासा का समाधान भगवान् अगले श्लोकों में करेंगे।

मनुष्य का यह स्वभाव है, उसकी प्रकृति है एक पैर जमाकर दूसरा पैर आगे बढ़ाता है। हम जब पैदल चलते हैं तो पहले एक पैर पृथ्वी पर जमा देने के पश्चात् दूसरा पैर आगे बढ़ाते हैं।

बीच में आने वाली बाधाओं पर पहले ही विचार कर लेने पर आगे और दृढ़ता के साथ बढ़ा जा सकता है। अतः अर्जुन इस पथ में आने वाले संशयों का निवारण कर इस पथ पर आगे बढ़ना चाहता है। इस प्रकार अर्जुन एक अच्छा जिज्ञासु है। हड़बड़ी से न बढ़कर धीर-गम्भीर रूप से आगे बढ़ना चाहता है। अतः अर्जुन के संशयों का समाधान भगवान् अगले श्लोकों में करते हैं—

पार्थ नैवेह नामुत्र, विनाशस्-तस्य विद्यते।
न हि कल्याण-कृत्-कश्चिद्, दुर्गतिं तात गच्छति॥6/40॥

हे पार्थ! उस (पुरुष) का न तो इस लोक में और न परलोक में ही विनाश होता है, क्योंकि हे तात (अर्थात् प्यारे) कल्याण कर्म करने वाला कोई भी व्यक्ति दुर्गति को प्राप्त नहीं होता।

प्राप्य पुण्य-कृतां लोका,-नुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे, योग-भ्रष्टोऽभिजायते॥6/41॥

योग-भ्रष्ट (पुरुष) पुण्य कर्म करने वालों के लोकों को प्राप्त होकर वहां असंख्य वर्षों तक रहकर फिर पवित्र और श्री सम्पन्न लोगों के घर में जन्म लेता है।

अथवा योगिना-मेव, कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभ-तरं, लोके जन्म यदी-दृशम्॥6/42॥

अथवा (वह) ज्ञानवान योगियों के ही कुल में जन्म लेता है। परन्तु यह जो इसका जन्म है, वह संसार में अत्यन्त दुर्लभ ही है।

तत्र तं बुद्धि-संयोगं, लभते पौर्व-देहिकम्।
यतते च ततो भूयः, संसिद्धौ कुरु-नन्दन॥6/43॥

वहां वह पूर्व शरीर में प्राप्त उस बुद्धि संयोग को (अर्थात् बोध के संस्कार को) पा जाता है, तथा हे कुरुनन्दन! फिर वह सिद्धि के लिए पहले से भी अधिक प्रयत्न करता है।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव, ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासु-रपि योगस्य, शब्द-ब्रह्माति-वर्तते॥6/44॥

उस पूर्व (जन्म के) अभ्यास से ही वह परवश हुआ भी योग की ओर खिंच जाता है तथा योग का जिज्ञासु भी शब्द ब्रह्म का (अर्थात् वेद के कहे हुए कर्म फल का) अतिक्रमण कर जाता है।

प्रयत्नाद्-यतमानस्-तु, योगी संशुद्ध-किल्बिषः।
अनेक-जन्म-संसिद्धस्,-ततो याति परां गतिम्॥6/45॥

किन्तु प्रयत्न पूर्वक अभ्यास करने वाला योगी तो पाप रहित होकर तथा अनेक जन्मों (के संस्कारों) से सिद्ध होकर परम गति को प्राप्त हो जाता है।

तपस्विभ्योऽधिको योगी, ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्-चाधिको योगी, तस्माद्-योगी भवार्जुन॥6/46॥

योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ है, (शास्त्र) ज्ञानियों से भी श्रेष्ठ माना गया है, योगी (सकाम) कर्म करने वालों से भी श्रेष्ठ है। इसलिए हे अर्जुन! तू योगी हो।

योगिना-मपि सर्वेषां, मद्-गते-नान्त-रात्मना।
श्रद्धा-वान् भजते यो मां, स मे युक्त-तमो मतः॥6/47॥

समस्त योगियों में भी जो श्रद्धावान् (योगी) मुझ में लगे हुए अन्तःकरण से मुझे भजता है, उसे मैं युक्ततम (अर्थात् परम श्रेष्ठ योगी) मानता हूं।

पार्थ, यह अर्जुन का कौलिक नाम है। पृथा कुन्ती का नाम है। पृथा का पुत्र होने से पार्थ है। अर्जुन के लिए दो सम्बोधन का प्रयोग हुआ। स्नेह के वशीभूत अर्जुन को

'तात्' सम्बोधन किया गया है। तात् पिता को कहते हैं। पिता अपने आप को पुत्र के रूप में (पत्नी के द्वार से) उत्पन्न करता है। जिसके द्वार से अपने आपको पुत्र रूप में परिणत करने में समर्थ होता है उस पत्नी का नाम 'जाया' है। पुत्र को भी तात् कहते हैं। शिष्य भी पुत्र होता है अतः शिष्य के कारण यहां तात् कहा गया है। पिता-पुत्र यह बिन्दु परम्परा है। गुरु-शिष्य यह नाद परम्परा है। नाद परम्परा से अर्जुन भगवान् कृष्ण का पुत्र है, अतः स्नेह, वात्सल्य से भर कर अर्जुन को कह रहे हैं—

सत् मार्ग पर चलने वाले का न लोक में पतन होता है और न परलोक में। भारतीय धर्म-पंथ व दर्शन चार पायों पर खड़ा है—आत्मा की अमरता, मोक्ष, पुनर्जन्म और कर्म का सिद्धान्त। कर्म का सिद्धान्त अटूट है। इन श्लोकों में कर्म सिद्धान्त की ही व्याख्या है—**अवश्यमेवहि भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।**

किए हुए शुभ या अशुभ कर्मों का फल अवश्य मिलता है। भगवान् दूसरे अध्याय के चालीसवें श्लोक में कहते हैं—

स्वल्प-मप्यस्य धर्मस्य, त्रायते महतो भयात्।2/40।

इस धर्म (योग, निष्काम कर्मयोग) का थोड़ा सा भी अनुष्ठान महान् भय से रक्षा करता है।

पुनः भगवान् आगे कहते हैं—

न मे भक्तः प्रणश्यति।9/31।

मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता।

भगवान् के ये दो वचन साधक को सिरहाने के पास और दृष्टि के पास अंकित कर लेना चाहिए। अन्त में मन में समाविष्ट कर लेना चाहिए।

सत् मार्ग पर, कल्याण मार्ग पर, योग मार्ग पर, भक्ति मार्ग पर, वेदान्त मार्ग पर जो आरुढ़ व्यक्ति है, भगवत प्राप्ति के लिए जो सर्वस्व परित्याग करने वाला व्यक्ति है उसकी दुर्गति कभी नहीं होती, उसकी दुर्दशा नहीं होती है। मेरे भक्त का कभी भी नाश नहीं होता है।

आपकी दृष्टि में किसी का नाश हो जाए, आपकी दृष्टि में किसी की दुर्गति हो जाए, उसका महत्त्व नहीं है। शास्त्र, संत और स्वयं उस साधक की दृष्टि में उसका नाश नहीं होता, उसकी दुर्गति नहीं होती।

एक हीरानन्दजी महात्मा थे। कर पात्रीजी के मित्र थे। जब वो त्याग, तप, वैराग्य की दशा में थे, वे गंगा के तट पर नंगे पांव जेठ की दुपहरी में जा रहे थे। मन में विरक्ति के कारण, उपनिषदों के चिंतन के कारण भगवद् भक्ति का जो आनन्द उमड़ रहा था, उस दुर्दशा की स्थिति में भिक्षा भी नहीं मिली थी। पेट

में भूख थी, सर पर कोई वस्त्र नहीं था, तप्त जेठ की दुपहरी, तप्त बालू में नंगे पांव महात्मा यात्रा कर रहे थे। मन में सोच रहे थे कि शास्त्र की कृपा से, गुरु की कृपा से, भगवान् की कृपा से जो आनन्द मुझे मिल रहा है यह आनन्द इन्द्र को भी क्या स्वप्न में सुलभ है? वे बाहर से तो दुर्दशा में थे पर अन्दर से अपने भाग्य की सराहना (प्रशंसा) कर रहे थे। इतने में एक बड़ी विचित्र घटना घटी। एक धोबी अपनी धर्म पत्नी धोबिन के साथ गंगाजी के तट पर वस्त्र धो रहा था। दोनों में वाक् युद्ध छिड़ गया। धोबिन की दृष्टि उस बाबाजी पर पड़ गई तो धोबिन ने धोबी पर ताना कसते हुए कहा, 'तुम बार-बार ताना कसते हुए कहते हो घर छोड़ देंगे। बाबा बन जायेंगे। देख लो इस बाबा की दुर्दशा। घर छोड़ने के बाद तेरी भी यही दुर्दशा होगी?' धोबिन ने धोबी को जो ताना कसा, धोबी ने बाबाजी की ओर देखकर कहा, 'बात तो ठीक ही कहती हो।' मेरी भी यही दुर्दशा होगी। उन्हें अपनी दुर्दशा पर ध्यान नहीं था पर बाबा की दुर्दशा पर दृष्टि जम गई।

यह बात हीरानन्दजी बाबा के कानों में भी पड़ गई? देखो इसी समय मैं सोच रहा हूं मुझ जैसा धन्य भाग्य कौन होगा, इन्द्र को भी इतना आनन्द प्राप्त नहीं है इस समय धोबिन की दृष्टि में मुझ जैसा दुःख का मारा हुआ, विपत्ति का मारा हुआ, देव का मारा हुआ संसार में कोई नहीं है।

इसलिए हम कह रहे हैं शास्त्र की दृष्टि में, संत की दृष्टि में, ईश्वर की दृष्टि में, स्वयं अपनी दृष्टि में साधक की दुर्गति नहीं होती।

बर्हिमुखी व्यक्ति उसकी बाहर की दुर्दशा को दुर्गति कह दे यह बात दूसरी है।

अब क्या होता है आप लोग ध्यान देकर सुनें। भगवान् ने कहा—मान लो योग के नाम पर कोई घर गृहस्थी परित्याग करके चला। श्रद्धा तो योग मार्ग पर अपार बनी रही, शरीर में कोई रोग आ गया या बुढ़ापे के कारण, जर्जत्ता के कारण योग मार्ग के लिए जितनी साधना अपेक्षित थी, उतनी साधना नहीं कर पाया, कोई दुरित का उदय हो गया, प्रयत्न में शिथिलता आ गई, इतने में राम नाम सत्य हो गए। यह बात दो टूक है। योग सिद्धि उसको प्राप्त नहीं हुई। साम्य योग की प्राप्ति नहीं कर सका। लक्ष्य को प्राप्त किए बिना ही उसका देह त्याग हो चुका। लेकिन भगवान् जो कहते हैं, वह बहुत महत्त्वपूर्ण बात है। यदि विषयों में आसक्ति के कारण नहीं, केवल बुढ़ापे के कारण, किसी रोग के कारण, प्रयत्न में शिथिलता आ गई अथवा प्रयत्न में शिथिलता नहीं आई लेकिन आयु पूरी हो गई, इसलिए उस शरीर से योग निष्ठा को प्राप्त नहीं कर सका।

तो भगवान् कहते हैं देखो उसकी दुर्गति नहीं होगी। झटपट मरने के चन्द महीनों बाद ही, साल दो साल में ही उसका जन्म हो जाएगा। कहां? संग्रह-परिग्रह

से रहित वेद व्यास सरीखे योग मार्ग में निष्णात, योगारूढ़ गृहस्थ ब्राह्मण के यहां जन्म हो जायेगा। योगियों के कुल में उसका जन्म हो जाएगा। जब योगी के कुल में उसका जन्म होगा, तो भोग-राग उसको मिलेगा नहीं। माता-पिता को योग मार्ग में संलग्न देखेगा, कथा सुनेगा। भगवान् की झटपट **लभते पौर्व-देहिकम्**।6/43। पौर्व दैहिक जो उसकी साधना होगी उभर आएगी। मृत्यु के बाद भी पूर्व साधना पर आवरण नहीं पड़ेगा। पूर्व साधना का नाश नहीं होगा। झटपट पूर्व साधना फलित हो जाएगी। उदाहरण दे दें—

आप जितना भी ज्ञान-विज्ञान अर्जित करके सो जाते हैं तो जागने पर वह सब नष्ट हो जाता है क्या? सोने के बाद जब आप जागते हैं उतनी योग्यता आपको अपने आप मिल जाती है या नहीं? ऐसा न हो तो बच्चे परेशान हो जाएं। दिन भर रटें और रात सोते ही उनकी विद्या खत्म हो जाए। तो कभी भी विद्वान् नहीं बन सकते। जैसे सत्संग के द्वारा आप जो भी विवेक प्राप्त करके सो जाते हैं, सोने मात्र से उस विवेक पर पानी नहीं फिर जाता, उठते ही वह ज्ञान आपको फिर प्राप्त हो जाता है। उसी प्रकार मृत्यु रूपी घाटी तय करने के बाद भी योगी की योग निष्ठा दबती नहीं, नष्ट नहीं होती। वह ज्यों-के-त्यों धरोहर के रूप में उसको प्राप्त हो जाती है।

क्योंकि मृत्यु सिर्फ एक लम्बी निद्रा है—और कुछ नहीं। जब रात में सोकर उठते हैं, तो अपना कल का समस्त संचित ज्ञान खो नहीं जाता, मिला हुआ ही रहता है। जैसे नींद से जागने के बाद सोने से पहले की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आता वैसे ही इस जन्म के बाद अगले जन्म में सारे पूर्व संचित साधन साधक को मिल जाते हैं।

इसलिए पूर्व जन्म में जहां से हमारी यात्रा को विराम मिला था, वहीं से आगे की यात्रा प्रारम्भ हो जाती है।

अतः पूर्वजन्म में जो कुछ आपको प्राप्त था वह बुद्धि के संयोग से पर जन्म में भी मिल जाएगा, आपकी कमाई नष्ट नहीं होगी। आप लोगों ने अनुभव किया होगा कि कई लोग जन्म से मेधावी होते हैं थोड़े में ही पढ़ लेते हैं, याद कर लेते हैं—अच्छे मार्ग पर चलते हैं। यह पूर्व जन्म के संचित संस्कारों के कारण होता है।

अतः मृत्यु अंतिम शेष नहीं है। यदि यही होता तो साधनायें व्यर्थ हो जातीं। इसलिए कोई हीनता अपने मन में मत आने दें।

अतः पूर्व जन्म की कमाई अगले जन्म में ज्यों की त्यों प्राप्त हो जाती है, फिर वह क्या करता है? भोग मार्ग पर परायण ही नहीं करता। शुकदेवजी के समान, सनतकुमार के समान, रमण महर्षि के समान, राम कृष्ण परमहंस देव,

आचार्य प्रणवानन्दजी, शंकराचार्यजी, ज्ञानेश्वर महाराजजी, गोरखनाथजी आदि के समान प्रकट होते ही, जन्म लेते ही वह योग का अवलम्बन लेता है। जहां तक पूर्व शरीर में साधना पूरी हो चुकी थी उससे आगे चल पड़ता है। घर-गृहस्थ के चक्रव्यूह से अछूता रहकर बिना विवाह के ही, बिना गृहस्थाश्रम में प्रवेश के ही बाल्यकाल से ही वह योग-मार्ग पर आरुढ़ होकर गन्तव्य तक पहुंच जाता है, योग निष्ठा प्राप्त कर लेता है। अब उसमें दुर्गति हुई क्या?

अतः जो उत्कृष्ट साधक है, इस जन्म में पूर्णता की उपलब्धि नहीं हुई तो वो तुरन्त जन्म लेगा। वो किसी लोक में नहीं जाएगा। वह जाएगा किसी योगी के घर में, गृहस्थ में रहते हुए जो अत्यन्त योग की साधना कर रहा है, अर्थात् ईश्वर की अनन्य भक्ति और ज्ञान की साधना कर रहा है उसके घर जाकर जन्म लेगा। बड़ा ही पवित्र घर जिसमें सम्पति नहीं है पर पवित्र है, योग की स्थिति है ऐसे गृहस्थ में जाकर वो जन्म लेगा। और किसी लोक में नहीं जाएगा, तुरन्त किसी घर में जाकर जन्म लेगा। भगवान् कहते हैं कि यह दुर्लभतम है, बहुत कठिन है। जैसे मधुसूदन सरस्वती थे। जन्म लिया किसी पवित्र ब्राह्मण कुल में। उस समय बड़े पवित्र ब्राह्मण कुल हुआ करते थे। अब भी हैं। वे जानबूझकर तपोमय जीवन को स्वीकारते थे। समृद्धि होते हुए भी नकार देते थे और ईश्वर की उपासना में, गायत्री के पुरचरण में, तत्त्व चिन्तन में मग्न रहते थे, उनके घर में जाकर जन्म लिया मदुसूदन सरस्वतीजी ने। छोटा-सा बालक उसको वापस स्मृति आ गई कि मेरे तो पिछले जन्म में साधना की हुई है, वो चाहे स्पष्ट रूप से नहीं आई पर एकदम से वो संस्कार आ गये।

एक दिन वो ब्राह्मण दम्पति बालक को लेकर गंगा स्नान को गए। बालक को किनारे बैठा दिया। गंगा के किनारे संतों की कुटिया बनी हुई थी। वह बालक एक कुटिया को देखकर उस ओर चल पड़ा तो पीछे-पीछे मां गई, कहां जा रहा हैं? वह सीधे कुटिया में प्रवेश कर गया। बाहर एक संत भी बैठे हुए थे वे भी उस बच्चे को देख रहे थे। कुटिया में एक आसन लगा हुआ था, उस पर कपड़े में लिपटी एक पुस्तक रखी हुई थी, उसे उठा लिया। मां ने कहा, 'साधु संतों की चीजों को हाथ नहीं लगाते।' पर वह तो उठाकर चलने लगा। यह तो मेरी है। साधु ने पूछा, 'इसमें क्या है?' यह भगवद् गीता है। तो संत ने बताया इस कुटिया में एक संत थे। भगवद्गीता पर भाष्य लिख रहे थे और बीच में ही शरीर पूरा हो गया।

इस प्रकार उसमें एकदम से संस्कार आ गए थे। तुरन्त आकृष्ट हो जाता है साधना की तरफ, मानों उसके पुण्य उसे खींचकर लगा देते हैं और उसको वही स्तर प्राप्त हो जाता है जो पिछले जन्म में उसको प्राप्त हुआ और वह अधिक जोर-शोर से अपने अभ्यास में लग जाता है।

इस प्रकार चाहे-अनचाहे उसका पूर्वाभ्यास उसको खींच लेता है। वह अवश (लाचार) की तरह उसी काम में लग जाता है। हमारा अनुभव है कि हमें हमारे अनजाने और अनचाहे विविध प्रकार के संयोगों का सामना करना पड़ता है। बुरा साथ मिलता है किन्तु कई लोग बुरा साथ मिलने पर भी बुरे नहीं होते। अच्छा साथ मिलता है किन्तु फिर भी उनमें वह गुण नहीं आ पाते। यह सब हमारे पूर्व संचित संस्कारों के कारण होता है।

चंदन विष व्यापत नहीं लिपटे रहत भुजंग।

अपने पूर्व जन्म के अभ्यास के कारण हम उस तरफ अवश की तरह खिंचे चले जाएंगे, हमारा पूर्व साधन नष्ट नहीं होगा।

भक्त ध्रुव का भी इसी प्रकार का उदाहरण है। जीवन की एक घटना ने उसे योग मार्ग में लगा दिया और मात्र 5 वर्ष की अवस्था में ही भगवान् के दर्शन पा लिए। इससे उसके पूर्व से ही जो ऋषि महर्षि साधना कर रहे थे, उन्हें कष्ट हुआ कि भगवान् भी पक्षपात कर रहे हैं। हम कितने लम्बे समय से साधना कर रहे हैं और हमें दर्शन नहीं दिए और ध्रुव को इतनी छोटी अवस्था में और इतने अल्प समय में भगवान् ने दर्शन दे दिए।

तब भगवान् ने उन तपस्वियों को बोध कराया कि ध्रुव ने पूर्व के अनेक जन्मों के अभ्यास के अन्त में केवल पांच वर्ष की अवस्था में ही भगवान् के दर्शन पा लिए।

अतः जन्म जन्मान्तरों का निरन्तर ईश्वर चिन्तन या योग अभ्यास भगवत प्राप्ति का साधन होता है। वे अभ्यास व्यर्थ नहीं जाते और साधक को उत्तरोत्तर ऊपर उठाते रहते हैं। साधक कभी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता है।

दूसरा उदाहरण उन साधकों का है जो दिव्य कामनाओं—इन्द्र-ब्रह्मादिक लोकों की प्राप्ति के लिए साधना में प्रवृत्त हुए बाद में कामना तो शेष नहीं रही, ईश्वर प्राप्ति की इच्छा में परिणत हो गई और शरीर पूरा हो गया तो वे दीर्घ काल तक दिव्य लोकों में वास करेंगे, दिव्य भोगों को भोगेंगे फिर मर्त्य लोक में श्रीमंतों के यहां जन्म लेंगे। इसका उदाहरण स्वामी विवेकानन्द, अरविन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, बुद्ध, महावीर का है। नरेन्द्रनाथ दत्त का जन्म श्रीमंत परिवार में हुआ। उनमें प्रारम्भ से ही योग के प्रति आकर्षण और प्रारम्भ से ही योग के लिए छटपटाहट थी। वे सारी बाधा विपत्ति को पारकर योग में लग ही गए।

विभीषण का जन्म भी राज परिवार में हुआ। वैराग्य किसी भी निमित्त से क्यों न उत्पन्न हो, फिर वह काल कलवित न होवे। विभीषण को वैराग्य अपमान के कारण हुआ। पर फिर वह काल कलवित नहीं हुआ, टूटा नहीं।

तीसरा उदाहरण योग मार्ग पर चलते-चलते अजामिल की तरह, राजा भरत की तरह, सौभरि महर्षि की तरह, विश्वामित्र की तरह विषयी का संग हो गया, किसी विषय के प्रति आकर्षण हो गया। एक साधक किसी की आलोचना कर रहा था। साधक है चलते-चलते फिसल जाए अतः अपने को सम्भालते हुए इनको सम्भालना मेरा दायित्व है। आलोचना ऊपर से की जाती है। मन से किसी की आलोचना नहीं की जाती।

ऊपर से आलोचना इसलिए करते हैं कि सत्य का समर्थन अपनी वाणी के द्वारा हो। असत्य, अन्याय का समर्थन आपके मौन रहने से न हो जाए। अन्दर से किसी की आलोचना मत करो। ऐसा क्यों? हमने कहा देखो, अपने जीवन को देखो। पिछले शरीर के त्यागते समय तक, मैं अपनी बात कहता हूं, मुक्त हो गया होता। आत्मा तो नित्य मुक्त है। लेकिन अनादि काल से पिछले शरीर को त्यागते समय तक हम आप मुक्त हो गए होते तो हमको, आपको यह जन्म क्यों प्राप्त होता? हम लोग राम-कृष्ण के अवतार तो हैं नहीं। इतना दुःसाध्य, इतना दम्भ तो नहीं कर सकते हम कृष्ण के अवतार हैं, राम के अवतार हैं। अनादि काल से पिछले शरीर त्यागते समय तक यदि हम आप कृतार्थ हो गए होते तो हमारा, आपका जन्म नहीं होता। तो बताइये अनादि काल से पिछले शरीर तक क्या करते रहे, चोरी करते रहे, डाका डालते रहे, विषयों में मुंह मारते रहे, संसार में भटकते रहे, चमगादड़ बनते रहे, छुछुन्दर बनते रहे, मछली बनते रहे, शिकारी बनते रहे, शेर बनते रहे, यह बात झूठी है क्या? अगर इन सब कृत्यों में मन को नहीं लगाया होता तो अनादि काल से अरबों-खरबों वर्ष हो गए न। और पिछले शरीर को त्यागते समय तक मुक्त हो गए होते। तो अपने जीवन पर ध्यान दीजिए, अब तक कहां सोए हुए थे, कहां खोए हुए थे? तो बस दिमाग ठीक हो जाएगा, बिल्कुल ठीक हो जाएगा। आलोचना की भावना मन में नहीं रहेगी। स्पष्ट है कि हम कोई प्रबुद्ध होकर अमलात्मा विमलात्मा तो होकर आए नहीं। अतः किसी के भी स्खलन की, फिसलन की सम्भावना रहती है। अतः सावधान और सजग रहने की आवश्यकता है। इसलिए भगवती सीता ने बाल्मीकि रामायण में हनुमानजी को कहा है कि सौहार्द और प्रेम का त्याग मत करो। संसार में कौन ऐसा है जिससे अपराध न बन पड़ा हो। अपराध करने वाले को दण्ड मिलना चाहिए, लेकिन दण्ड भी दो तो मुस्कराते-मुस्कराते, हंसते-हंसते, उसकी मजबूरी, परिस्थिति को समझते हुए दो। कसाई के समान क्रूरता से भरकर दण्ड मत दो किसी को। सोचो आज जो रत्नाकर डाकू है कल महर्षि वाल्मीकि हो सकता है और जो माला फेरने वाला नैष्ठिक ब्रह्मचारी है, वह वैश्यागामी हो सकता है। आज जो आततायियों का समर्थन करने वाला धृतराष्ट्र है कल वह मुक्त हो सकता है। धृतराष्ट्र अन्त समय में सम्भल गए और मुक्त हो गए और राजा भरत,

पूरा जीवन तपस्या की, अन्तिम समय में फिसल गए, मृग के बच्चे में प्रेम हो गया। दो जन्म के लिए फिसल ही गए। अतः साधना गुरु या अन्य साधकों के साथ होनी चाहिए जिससे साधक से त्रुटि होने पर उसे सावधान कर सके। गुरु या अन्य साथी साधक होता तो वह टोकता, सावधान करता, भूल का एहसास कराता। तुमने तो चक्रवर्ती साम्राज्य का मोह त्याग दिया वही तुम मृगशावक के मोह में बन्ध गए हो। उसके प्रति कर्तव्य पालन करो, मोह त्यागो। अतः कम से कम दो साधक एक साथ साधन, भजन करें।

बड़ी विचित्र बात है महाराज! जुआ का खेल है जीवन। राजा भरत जैसे व्यक्ति भी दो जन्म के लिए फिसल सकते हैं और दुर्योधन जैसों का बाप धृतराष्ट्र भी आतताइयों का समर्थक, पोषक भी अन्तिम समय में लुढ़कते-पुड़कते अपना काम बना सकता है, महापुरुषों के अनुग्रह से। वेद व्यास ने संजय एवं विदुर को धृतराष्ट्र के पीछे लगाकर रखा, इसे सतपथ का उपदेश देते रहो ताकि कभी तो वैराग्य जागेगा एवं साधना पथ पर चलेगा। इसका परिणाम हुआ। राजा युधिष्ठिर के राज्याभिषेक के 15 वर्ष के पश्चात् धृतराष्ट्र में भी वैराग्य जागा। कुछ भीम के ताने से कुछ विदुर के उपदेश से। वन का रास्ता लिया साधना के लिए, भजन के लिए।

बड़ी विचित्र बात है कि अजामिल इन्द्रियों को बहुत कसने वाला कान्य कुब्ज ब्राह्मण था लेकिन एक गलत दृश्य पर दृष्टि चली जाने पर कम से कम मरने से पूर्व तक तो फिसलता ही चला गया। तो यह स्थिति है सज्जनो।

दूसरा व्यक्ति है—साधन करते-करते घर गृहस्थी से उपराम होने पर भी किसी विषय में मन थोड़ा अटक गया। मन यों भी अटकता है दया, परोपकार, सेवा के कारण। राजा भरत ने क्या अपराध किया। बहते हुए मृग के बच्चे को, अनाथ बच्चे को नदी की धारा से बचाया, वह तो दया थी। लेकिन दया विवेक की सीमा का अतिक्रमण कर जाए तो माया बन जाए। नदी से उठाने तक तो दया थी। अब उसको चारा देना, अपने आश्रम में बांधकर रखना, लाड़-प्यार करना और अन्त में उसके साथ खेलकूद करते-करते समाधि का समय कटता गया और मृग के बच्चे में ध्यान बटता गया। इतने में मौत की घड़ी आ गई। मृग में राग के कारण अन्त में मृग बनना पड़ा।

तो घर बार छोड़ने के पश्चात् परोपकार के नाम पर, दया के नाम पर भी योग मार्ग से अपने-आपको पृथक् नहीं कर लेना चाहिए। विवेक से नियंत्रित जो दया होती है वह तो ठीक है। विवेक की सीमा का अतिक्रमण करते ही प्रेम है, दया है, यह सबके सब माया बनकर व्यक्ति के लिए फांसी का काम करने वाला मनोभाव बनता है।

कदाचित विषय में चित्त के अटक जाने के कारण इन्द्र लोक की महिमा सुनी। अन्त में घर-गृहस्थी छोड़कर इन्द्र को प्राप्त करने चले आए। इन्द्र को तो प्राप्त किया नहीं। दबा दिया उस भावना को। फिर ब्रह्म लोक प्राप्त करने की भावना आई, फिर दबा दी और दबाकर साधना करने लग गए। लेकिन इस बीच में शरीर छूट गया तो अब क्या होगा?

अब यह होगा, पहले उस लोक में जाना पड़ेगा मरने के बाद। तो भी घाटे की क्या बात है? इन्द्र लोक की प्राप्ति के लिए कोई साधन तो आपने किया नहीं। योग मार्ग में लगे रहे। लेकिन कामना को दबा देने पर भी कामना उभरती रही। इसलिए उसी शरीर से योग निष्ठा की प्राप्ति तो नहीं हुई। मरने के बाद इन्द्र लोक की प्राप्ति के लिए कोई भी साधन नहीं करने पर भी योग की पूँजी क्या करेगी? आपकी पुर्यष्टक सहित जीवकला को इन्द्रलोक पहुंचा देगी। बहुत वर्षों तक दिव्य लोक में आपको विषय जन्य आनन्द प्राप्त होगा। उसके बाद मर्त्यलोक में धनी मानी सदाचारी सम्पन्न क्षत्रियादि उत्तम कुल की प्राप्ति होगी। अरबपति-खरबपति, राजा-महाराजा, सदाचारी के परिवार में आपका जन्म होगा।

वहां पर भी लाड़-प्यार से पलेंगे। भोग भोगने की सब सामग्री आपको सुलभ होगी। बहे-बहाये जाते थे—थोड़े दिन तक शादी-ब्याह में खिलौने में मन उलझ जाएगा। यहां तक हो जाएगा, तो भी तो घाटा नहीं है। वहां भी वाह-वाह और यहां आये तो दाने-दाने के लिए मुहताज नहीं। दुल्हा भी बन गए। एक-दो बाल गोपाल भी हो गए आराम से दिन कट रहे थे इतने में जो योग का बल, योग की जो पूंजी, योग की जो साधना पूर्व जन्म की थी धक्का मारकर एकाएक क्या करेगी? योग मार्ग पर जाकर आपको पटक देगी, खड़ा कर देगी। ये तो बड़े भोगी थे यह क्या हुआ? योग की पूंजी से योग का संस्कार उभरेगा। श्यामा चरण लाहिड़ीजी के जीवन में ऐसा ही मोड़ आया। अभी तक तो प्रवृत्ति मार्ग पर चल रहे थे।

बहे बहाये जा रहे थे लोक वेद के साथ

लेकिन योग का संस्कार कहेगा तुम कहां? तुम इस पथ के पथिक नहीं हो। अर्थात् आपको Arrest करके, आपका निग्रह करके आपके योग का प्रबल संस्कार आपको योगियों के बीच में लाकर रख देगा। बस छुट्टी मिल गई। योग साधना शेष रह गई थी। पुनः योग का अवलम्बन लेकर फिर योग सिद्धि को प्राप्त कर लेंगे। दुर्गति हुई क्या? कहीं पर दुर्गति नहीं हुई।

विलम्ब तो हुआ। एक जन्म लेना पड़ा। बहुत वर्षों तक दिव्य लोकों में रहना पड़ा। कुछ समय यहां भी हास-परिहास में बिताना पड़ा। इससे विलम्ब तो हुआ, दुर्गति कहां हुई? भगवान् ने अर्जुन को कहा कल्याण मार्ग पर चलने वाले व्यक्ति की दुर्गति कदापि नहीं होती है।

अर्जुन के मन में एक जिज्ञासा हुई। आखिर ईशावास्य उपनिषद् का कथन है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥3॥

यह श्लोक हृदय को झकझोर देने वाला है। इतना क्रान्तिकारी श्लोक है साधकों के लिए।

असूर्या नाम ते लोका

ईशावास्य उपनिषद् का कहना है कि जो पुण्यात्मा हैं, शास्त्र विधि से इन्द्रादि लोकों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हैं, सदाचार, संयम पूर्वक जीवन यापन करते हैं, चोरी-चारी से सदा दूर रहते हैं, मरने के बाद इनको इन्द्रादि लोकों की प्राप्ति भी हो जाती है लेकिन श्रुति कहती है, ये सब असुर लोक हैं। इसका मतलब क्या है?

जब तक हमारा अनात्म वस्तुओं में रमण होता है, अनात्म लोकों की जब तक प्राप्ति होती है तब तक आसुरी भाव बना हुआ है। इससे सिद्ध क्या हुआ? इससे सिद्ध यह हुआ कि स्वर्ग में कोई दो लाख वर्ष तक रह गया, आनन्द की तो कमी नहीं है लेकिन इतने समय तक, दो लाख वर्षों तक आत्म स्वरूप की प्राप्ति से वंचित रहा या नहीं? मोक्ष से वंचित रहा या नहीं? इसलिए वह नरक ही है। नरक की अपेक्षा तो परम सुख है परन्तु मोक्ष की अपेक्षा स्वर्ग भी नरक ही है।

आगस्य और जेगीसम्य दो महायोगियों का सम्वाद योग भाष्य में वेदव्यासजी ने उद्धृत किया है। दो सिद्ध मिल गए। एक की आयु दस महाकल्प की। तो दूसरे योगी ने कहा आपकी इतनी लम्बी आयु है—10 महा कल्प की। प्रलय दशा में भी आपका नाश नहीं हुआ है। फिर भी आपको भी गर्भ में आना पड़ा है, फिर कुछ समय यहां भटकना पड़ा है। भगवत प्राप्ति से, मुक्ति के मार्ग से च्युत ही रहे हैं। ऐसी दशा भी प्राप्त न हो, इसी शरीर में रहते-रहते भगवत प्राप्ति हो जाए तो उत्तम है। इस का मतलब प्रत्यवाय रहित, प्रतिबंध रहित जीवन हो, इसी जीवन में भगवत तत्त्व की प्राप्ति हो जाए, उत्क्रमण और पुनर्जन्म का मुख न देखना पड़े। इसका क्या उपाय है? इसका उपाय है भगवान् की भक्ति।

योगिना-मपि सर्वेषां, मद्-गते-नान्त-रात्मना।
श्रद्धा-वान् भजते यो मां, स मे युक्त-तमो मतः॥6/47॥

समस्त योगियों में भी जो श्रद्धावान् (योगी) मुझमें लगे हुए (आसक्त) अन्तरात्मा से मुझ को (निरन्तर) भजता है उसे मैं युक्ततम (परम श्रेष्ठ योगी) मानता हूं।

पांच वर्ष के लिए सरकार चुनी जाती है। कोई प्रधानमंत्री पद पर बैठता है, कोई मंत्री आदि नाना पदों को भोगते हैं। बीच में सरकार टूट गई या पांच वर्ष बाद पुनः चुनाव जीत न सके तो क्या हो जाते हैं, भोग-भ्रष्ट। भोग से च्युत हो जाते हैं, प्रधानमंत्री के आगे भूतपूर्व शब्द लग जाता है पूर्व प्रधानमंत्री, मंत्री, डी.एस.पी. आदि तो सम्मान सूचक शब्द हैं, पर जो योग से, धर्म से, सेवा से, ब्रह्मचर्य से, भ्रष्ट हो जाए तो योग-भ्रष्ट, धर्म-भ्रष्ट, सेवा-भ्रष्ट, यानी भूतपूर्व योगी, भूतपूर्व धर्माचार्य या भूतपूर्व ब्रह्मचारी यह सम्मान सूचक शब्द है या अपमान सूचक?

धर्म शब्द तो बहुत बढ़िया है, धर्म पर चलते-चलते वहां से गिर पड़े। ऐसे ही योग-भ्रष्ट प्रशंसा है या निन्दा? योग मार्ग पर चलते-चलते भ्रष्ट हो गए। योग की प्राप्ति नहीं कर सके, चूक गए। वायुयान-भ्रष्ट किसको कहेंगे? आपके एरोड्राम पहुंचते-पहुंचते चार मिनट पहले यान उड़ गया। आप यान को प्राप्त नहीं कर सके। यान-भ्रष्ट। यह भी तो निन्दा ही है जो पूर्व शरीर से योग प्राप्त नहीं कर सका। शरीर छोड़ने की आवश्यकता पड़ गई उसका नाम हो गया योग-भ्रष्ट। योग-भ्रष्ट भी न होना पड़े इसका सुगम उपाय क्या है? मुझ परमात्मा का आश्रय ले।

इसको तो होश नहीं, खेलकूद में रमा है। अगर मैं न सम्भालूं तो गिर कर मर जाए, बिजली का करेन्ट लग जाए। उस समय बंदरिया, बच्चा चें-चें करता रहे उसकी कुछ नहीं सुनती। उसको खींचकर छाती से चिपका लेती है। नहीं तो प्रायः बन्दर का बच्चा स्वयं चिपका रहता है।

बिल्ली अपने बच्चे को मुंह में लेकर सुरक्षित स्थान पर पहुंचा देती है।

बन्दर के बच्चे के समान योग-मार्ग पर चलने वाले निर्गुणोपासक तत्त्वज्ञान का आलम्बन लेने वाले व्यक्ति हैं। सगुण-साकार भगवान् में पूर्ण आस्था रखने वाले जो व्यक्ति हैं, उनकी भावना है कि भव सागर से तर जाएं। वे बिल्ली के बच्चे के समान हैं। भगवान् उनकी देख-रेख स्वयं करते हैं। नारदजी चाहते तो थे विश्वमोहनी से विवाह। भगवान् ने यह अनर्थ नहीं होने दिया। बन्दर का मुख दे दिया। भगवान् कभी-कभी प्रतिकूल परिस्थिति उत्पन्न करके भी शरणागत भक्त की रक्षा करते हैं।

अब भगवान् निष्कर्ष के रूप में कहते हैं—मेरे स्वरूप में मन को रमा कर श्रद्धापूर्वक जो मेरा भजन करते हैं, सेवा करते हैं वे सब योगियों में श्रेष्ठ हैं। वे योग से च्युत नहीं होते। योग भ्रष्ट नहीं होते। उनका प्रयत्न शिथिल नहीं होता है।

दो बातों पर विशेष ध्यान देवें—

एक विचित्र बात है, योग मार्ग पर चलने वाला व्यक्ति प्रायः अहंकारी हो जाता है। मैं अपने बलबूते पर भवसागर से तर लूंगा, योग सिद्धि प्राप्त कर लूंगा।

प्रयत्न तो खूब करता है लेकिन अहंकार उसके मन में आ जाता है। आस्तिक तो है, साधना कर रहा है पर जोर उसका खुद के प्रयत्न पर है। फलतः अहम का शिकार होने की सम्भावना रहती है। भक्ति-मार्ग पर चलने वाला व्यक्ति भगवान् का आश्रय लेता है इसलिए भक्त को अहंकार नहीं आता। भक्त को अहंकार आ गया तो समझो भक्ति का नाम भी नहीं है। ईश्वर का आश्रय लेने के कारण जो-जो बाधाएं आती हैं वह ईश्वर की कृपा से हटती चली जाएंगी पर प्रमाद आ जाता है। भगवान् की कृपा, गुरु की कृपा के नाम पर प्रमाद खूब पलता है। हमारे गुरु इतने महान् हैं, लो गुरु के नाम पर मरो। मरना जिसको है वह गुरु के नाम पर मरेगा ही। तुम्हारे गुरु इतने महान् हैं तो उनका काम बना तुम्हारा क्या काम बना? उनसे लाभ उठाओ। 16वें अध्याय के भाष्य में शंकराचार्यजी लिखते हैं—ऊंचे गुरु का गुमान भी आसुरी सम्पदा है। मैं इतने ऊंचे गुरु का शिष्य हूं। मैं इतने नीचे पांव कैसे रखूं?

हमारे गुरु देव के कई शिष्य हैं जो किसी का प्रवचन नहीं सुनते। कहते हैं, 'इतने ऊंचे महापुरुष का प्रवचन सुन चुका। अब मैं किसका प्रवचन सुनूंगा?' उनको नहीं मालूम वे महापुरुष स्वयं 14-14 घण्टा प्रवचन सुनते थे। ये नहीं देखते थे कि प्रवचन कौन कर रहा है। बस सुलझे हुए अच्छे महात्मा हैं, इतना पर्याप्त था।

कहने का अभिप्राय यह है कि जो योग मार्ग पर चलने वाला व्यक्ति है, उसने यदि भगवान् के सगुण-साकार रूप का आश्रय नहीं लिया है तो प्रायः अहम् आ जाता है। मैं अपने बलबूते पर तरूंगा भवसागर से।

तो कृपा के नाम पर प्रमाद आ जाता है और प्रयत्न के नाम पर अहंकार। ये दोनों शत्रु हैं। प्रयत्न के नाम पर अहंकार नहीं आना चाहिए और कृपा के नाम पर प्रमाद नहीं पनपना चाहिए। भगवान् की कृपा से भवसागर तरेंगे, लेकिन भगवान् की कृपा से जो शरीर-इन्द्रिय-प्राण-अन्तःकरण की प्राप्ति हुई है उससे क्या भाड़ झोकेंगे? अरे उस शक्ति का उपयोग तो भगवान् के लिए ही करेंगे न?

अतः कृपा के नाम पर प्रमाद नहीं पालना चाहिए और प्रयत्न के नाम पर, पौरुष के नाम पर अहंकार नहीं पालना चाहिए। तब व्यक्ति इसी जीवन में भगवान् को प्राप्त कर लेता है। प्रयत्न करें अहंकार न पालें और कृपा का अनुभव करें, प्रमाद न पालें। प्रमाद और अहंकार दोनों घाटियों से जब व्यक्ति अपने मन को दूर रखता है तब इसी जीवन में व्यक्ति भगवान् को प्राप्त कर लेता है। इसलिए जो भक्ति का, भगवान् का आश्रय लेते हुए, प्रमाद का शिकार न होते हुए घोर पुरुषार्थ करता है, वह भगवान् की दृष्टि में श्रेष्ठ योगी है।